श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली।—

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गेंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली।—

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० वारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, रा० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

—:०:—

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

—:०:—

एषणासमितिमें निश्चयव्यवहार— एषणा समितिमें वे शुद्ध विधि सहित अंतराय टालकर, दोषोंको दूर कर आडम्बर पाखण्डोंको न बढ़ाकर वे आहारकी एषणा करते हैं। यह तो उनका व्यवहारसमिति अंश है किन्तु अंतरंगमें उनके यह ध्यान बना हुआ है कि मेरे आत्माका तो केवल द्रव्यापनका कार्य है। आहार करने जैसी अत्यन्त बेढंगी बातमें लग पड़ता है। कहां तो यह मैं अमूर्त आत्मतत्त्व और कहां यह मूर्त पुद्ग आहार? इसका इसके साथ जोड़ा क्या? ऐसे अनाहारस्वभावी अमू आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिए चूंकि यह परिस्थिति बड़ी विकट है सो आहा ग्रहण करना पड़ रहा है। आहार ग्रहण करते हुए अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्वका ध्यान रखने वाले साधुओंको आहारका मजा ही क्या आयेगा? भले ही लोग हाथ जोड़ रहे हैं, बड़े मिष्ट व्यञ्जन सामने रख रहे हैं, किन्तु उनका चित्त तो अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्वकी ओर है। या निश्चय समिति सहित व्यवहारसमितिका पालन करते हैं।

प्रतिष्ठापनासमितिमें निश्चयव्यवहार— प्रतिष्ठापना समितिमें वे गुप्त प्रासुक, बाधारहित, जहां किसी की रुकावट न हो, ऐसे स्थान पर मलमूत्र क्षेपण करते हैं। मलमूत्र क्षेपण करनेके पश्चात् कायोत्सर्ग करके उनकी ऐसी भावनामें जो विशुद्धि बढ़ती है वह भी आश्चर्यजनक है। एक बेढंगी परकी बातसे निपट कर, इस शरीरकी हठोंके झंझटोंसे दूर होकर वे साधु अपने आपमें विश्राम लेते हैं और उस निर्दोष निर्मल आत्मतत्त्व की भावना करते हैं। साथ ही इस शरीरके अशुचिपनेका बार-बार परि-णाम बनाते हैं, मनमें चिंतन करते हैं। यों अन्तरमें निश्चयसमिति सहित वे प्रतिष्ठापना समिति करते हैं।

समितिधर संतोंके गुप्तिकी भावना— इस प्रकार प्रवृत्ति करते समय समितियां सहित अपनी प्रवर्तना करने वाले साधुसंत परिणाम यह रखते हैं कि यह सब कुछ भी न करना पड़े उसही में भला है और इन झंझटोंसे दूर होकर जब जब भी लम्बे-लम्बे अवसर आते हैं वे गुप्तियोंके पालनमें रत रहते हैं अथवा थोड़ा भी अवसर मिले तो वे गुप्तियोंके पालनेका यत्न करते हैं।

गुप्तिका अर्थ— गुप्ति कहते हैं रक्षा करनेको। लोकमें गुप्तिका अर्थ छुपाना प्रसिद्ध हो गया है। यह गुप्त बात है अर्थात् छुपाई गयी बात है; पर गुप्तका अर्थ छिपाना नहीं है। गुप्तका अर्थ है रक्षा करना। किन्तु रक्षा छुपानेमें अधिकतया होती है इसलिए इसका असली अर्थ लोग भूल गए और छुपाना अर्थ प्रसिद्ध हो गया। यह मेरी बात गुप्त रखना, इसका अर्थ

एषणासमितिमें निश्चयव्यवहार— एषणासमितिमें वे शुद्ध विधि सहित अंतराय टालकर, दोषोंको दूर कर आडम्बर पाखण्डोंको न बढ़ाकर वे आहारकी एषणा करते हैं। यह तो उनका व्यवहारसमिति अंश है किन्तु अंतरंगमें उनके यह ध्यान बना हुआ है कि मेरे आत्माका तो केवल द्रव्यापनका कार्य है। आहार करने जैसी अत्यन्त बेढंगी बातमें लग पड़ता है। कहां तो यह मैं अमूर्त आत्मतत्त्व और कहां यह मूर्त पुद्ग आहार ? इसका इसके साथ जोड़ा क्या ? ऐसे अनाहारस्वभावी अमू आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिए चूँकि यह परिस्थिति बड़ी विकट है सो आहा ग्रहण करना पड़ रहा है। आहार ग्रहण करते हुए अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्वका ध्यान रखने वाले साधुओंको आहारका मजा ही क्या आयेगा ? भले ही लोग हाथ जोड़ रहे हैं, बड़े मिष्ट व्यञ्जन सामने रख रहे हैं, किन्तु उनका चित्त तो अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्वकी ओर है। या निश्चय समिति सहित व्यवहारसमितिका पालन करते हैं।

प्रतिष्ठापनासमितिमें निश्चयव्यवहार — प्रतिष्ठापना समितिमें वे गुप्त प्रासुक, बाधारहित, जहां किसी की रुकावट न हो, ऐसे स्थान पर मलमूत्र क्षेपण करते हैं। मलमूत्र क्षेपण करनेके पश्चात् कायोत्सर्ग करके उनकी ऐसी भावनामें जो विशुद्धि बढ़ती है वह भी आश्चर्यजनक है। एक बेढंगी परकी बातसे निपट कर, इस शरीरकी हठोंके झंझटोंसे दूर होकर वे साधु अपने आपमें विश्राम लेते हैं और उस निर्दोष निर्मल आत्मतत्त्व की भावना करते हैं। साथ ही इस शरीरके अशुचिपनेका बार-बार परिणाम बनाते हैं, मनमें चिंतन करते हैं। यों अन्तरमें निश्चयसमिति सहित वे प्रतिष्ठापना समिति करते हैं।

समितिधर संतोंके गुप्तिकी भावना— इस प्रकार प्रवृत्ति करते समय समितियां सहित अपनी प्रवर्तना करने वाले साधुसंत परिणाम यह रखते हैं कि यह सब कुछ भी न करना पड़े उसही में भला है और इन झंझटोंसे दूर होकर जब जब भी लम्बे-लम्बे अवसर आते हैं वे गुप्तियोंके पालनमें रत रहते हैं अथवा थोड़ा भी अवसर मिले तो वे गुप्तियोंके पालनेका यत्न करते हैं।

गुप्तिका अर्थ— गुप्ति कहते हैं रक्षा करनेको। लोकमें गुप्तिका अर्थ छुपाना प्रसिद्ध हो गया है। यह गुप्त बात है अर्थात् छुपाई गयी बात है, पर गुप्तका अर्थ छिपाना नहीं है। गुप्तका अर्थ है रक्षा करना। किन्तु रक्षा छुपानेमें अधिकतया होती है इसलिए उसका असली अर्थ लोग भूल गए और छुपाना अर्थ प्रसिद्ध हो गया। यह मेरी बात गुप्त रखना, इसका अर्थ

तो यह है कि शुभ और अशुभ सभी प्रकारके विचार भी दूर हो जायें और उससे अनुत्कृष्ट अंश यह है कि अशुभ संकल्प विकल्प उत्पन्न न हों और शुभ संकल्पसे अपने आपकी रक्षाका यत्न करें यह अनुत्कृष्ट अंश है।

क्रोधमें अविवेकका प्रसार— क्रोध कषायमें यह जीव बेहोश हो जाता है। कर्तव्य अकर्तव्यका विवेक नहीं रहता है। गुस्सा ही तो है। उस गुस्सेमें जो कुछ कर आवे। क्रोध कुछ अविवेकको लिए हुए होता है। यद्यपि ज्ञानी पुरुषके भी कभी क्रोध भी आ जाता तो भी विवेकको स्पर्श किए हुए होता है, एकदम अविवेक और अज्ञान भरा नहीं होता है। फिर भी जितने अंशमें विवेक है वह तो है ज्ञानका कार्य और जितने अंशमें अविवेक है वह है क्रोधका कार्य।

क्रोधसे स्वपरव्यपाय— क्रोधमें आकर मुनि द्वीपायन ने अपना सर्वस्व नाश किया और नगरीका भी नाश हुआ। द्वीपायन सम्यग्दृष्टि साधु थे। सम्यग्दर्शन और सच्ची साधुता आये बिना तैजस ऋद्धि नहीं प्रकट होती। उनके तैजस ऋद्धि थी। तैजस दो प्रकारका होता है—शुभ तैजस और अशुभ तैजस। वह ऋद्धिधारी किसी नगर पर, किसी समूह पर, किसी पर प्रसन्न हो जाय तो उसके दाहिने कंधेसे उत्तम ओज निकलता है और वह सबको भला करनेका कारण हो जाता है। उनको ही किसी कारणसे क्रोध आ जाय तो बायें कंधेसे गंदा, विकराल, लाल रंगका बिलाव जैसे आकारका तेजपुञ्ज निकलता है उसके निकलते ही उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है, अपना विनाशकर लेता है और इस नगरका, उस समूहका, उस व्यक्तिका भी सर्वनाश कर देता है, प्राणघात कर देता है।

क्रोधविनाशकी शीघ्रतामें भलाई— क्रोधका थोड़ा भी उपजना बुरा है। थोड़ा भी उपजे उसही समय सावधानी कर ले। क्रोधके कारण दूसरों से जो वचनालाप हो जायेगा उसका विसम्वाद इतना बढ़ जायेगा कि पीछे चाहते हुए भी उस झगड़ेका मिटाना कठिन हो जायेगा। इस क्रोधकी कलुषताका परिहार करना, इसका नाम है मनोगुप्ति।

मानकी कलुषता— घमंड भी बहुत कलुषित भाव है। अचरज तो यह है कि घमंडी पुरुष घमंड करके, मान बगराकर, शान जताकर अपने को समझता है कि मैं श्रेष्ठ हो गया हूं, किन्तु सारी दुनिया उसे उल्लू, बेवकूफ समझ रही है। उस घमंडी पुरुषका इस यथार्थताकी ओर चित्त ही नहीं जाता है। मान कषाय तो उन्मत्त बना देता है। ऐसे मान कषायोंका परिहार करना सो मनोगुप्ति है।

तो यह है कि शुभ और अशुभ सभी प्रकारके विचार भी दूर हो जायें और उससे अनुत्कृष्ट अंश यह है कि अशुभ संकल्प विकल्प उत्पन्न न हों और शुभ संकल्पसे अपने आपकी रक्षाका यत्न करें यह अनुत्कृष्ट अंश है।

क्रोधमें अविवेकका प्रसार— क्रोध कषायमें यह जीव बेहोश हो जाता है। कर्तव्य अकर्तव्यका विवेक नहीं रहता है। गुस्सा ही तो है। उस गुस्सेमें जो कुछ कर आवे। क्रोध कुछ अविवेकको लिए हुए होता है। यद्यपि ज्ञानी पुरुषके भी कभी क्रोध भी आ जाता तो भी विवेकको स्पर्श किए हुए होता है, एकदम अविवेक और अज्ञान भरा नहीं होता है। फिर भी जितने अंशमें विवेक है वह तो है ज्ञानका कार्य और जितने अंशमें अविवेक है वह है क्रोधका कार्य।

क्रोधसे स्वपरव्यपाय— क्रोधमें आकर मुनि द्वीपायन ने अपना सर्वस्व नाश किया और नगरीका भी नाश हुआ। द्वीपायन सम्यग्दृष्टि साधु थे। सम्यग्दर्शन और सच्ची साधुता आये बिना तैजस ऋद्धि नहीं प्रकट होती। उनके तैजस ऋद्धि थी। तैजस दो प्रकारका होता है—शुभ तैजस और अशुभ तैजस। वह ऋद्धिधारी किसी नगर पर, किसी समूह पर, किसी पर प्रसन्न हो जाय तो उसके दाहिने कंधेसे उत्तम ओज निकलता है और वह सबको भला करनेका कारण हो जाता है। उनको ही किसी कारणसे क्रोध आ जाय तो बायें कंधेसे गंदा, विकराल, लाल रंगका बिलाव जैसे आकारका तेजपुञ्ज निकलता है उसके निकलते ही उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है, अपना विनाशकर लेता है और इस नगरका, उस समूहका, उस व्यक्तिका भी सर्वनाश कर देता है, प्राणघात कर देता है।

क्रोधविनाशकी शीघ्रतामें भलाई— क्रोधका थोड़ा भी उपजना बुरा है। थोड़ा भी उपजे उसही समय सावधानी कर ले। क्रोधके कारण दूसरों से जो वचनालाप हो जायेगा उसका विसम्वाद इतना बढ़ जायेगा कि पीछे चाहते हुए भी उस झगड़ेका मिटाना कठिन हो जायेगा। इस क्रोधकी कलुषताका परिहार करना, इसका नाम है मनोगुप्ति।

मानकी कलुषता— घमंड भी बहुत कलुषित भाव है। अचरज तो यह है कि घमंडी पुरुष घमंड करके, मान बगराकर, शान जताकर अपने को समझता है कि मैं श्रेष्ठ हो गया हूं, किन्तु सारी दुनिया उसे उल्लू, बेवकूफ समझ रही है। उस घमंडी पुरुषका इस यथार्थताकी ओर चित्त ही नहीं जाता है। मान कषाय तो उन्मत्त बना देता है। ऐसे मान कषायोंका परिहार करना सो मनोगुप्ति है।

नहीं, मौनपूर्वक चला गया। जब कारण विदित किया गया तो मालूम हुआ कि एक मुनिने यह कहा कि मेरे मनोगुप्ति सिद्ध नहीं हुई। त्रिगुप्ति धारक कहकर पुकारा था। उन्होंने कथा भी बताई। समय नहीं है और न प्रसंग है। एकने बताया था कि मेरे वचनगुप्ति सिद्ध नहीं है, एकने बताया कि मेरे कायगुप्ति सिद्ध नहीं है और जिसको तीनों गुप्तियां सिद्ध हो गयीं उसने सोचा कि त्रिगुप्तिधारक मुनिराज कहकर यह क्यों पुकार रही है। झट कारण जाना अवधिज्ञानसे, अशुद्ध स्थान है, यहां आहार नहीं लिया। तो यही वैभव और यही महान् पुरुषार्थ है। मनका वशमें रखना, मनका शुद्ध रखना, चारों कषायोंका परिहार करना—इसे मनोगुप्ति कहते हैं।

भैया! इतनी तो कमसे कम अपने लिए भी शिक्षा लें कि यदि मनसे सब प्राणियोंके हितकी बात सोची जाय तो उसमें तुम्हारा भला ही है, बिगाड़ कुछ नहीं है। तुम केवल भाव ही बना सकते हो। किसी दूसरे का कुछ कर नहीं सकते। जब केवल भाव बनाने तक ही तुम्हारी हद है तब शुद्ध भाव ही क्यों न बनाये जायें। सर्वप्राणियोंका हित सोचें. सर्वसुखी हों. शुद्ध दृष्टि बने, ज्ञानका उजेला पायें। ज्ञानसे बढ़कर इस जीवका लाभ लोकमें कुछ नहीं है। शुद्ध ज्ञान ही शरण है। बड़ी सम्पदा हो, राजपाट हो, फिर भी ज्ञान विपरीत है, अट्टसट्ट है, अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति है तो उसे चैन तो न मिलेगी, अशांति ही रहेगी। और कोई दूसरा धनहीन भी है अथवा धनका त्याग करके संन्यासी हुआ है, वह तो अपने आपमें ज्ञान-सुधारसका स्वाद लिया करता है। ज्ञान ही सुख शांतिका परम आधार है। इसलिए सही ज्ञान रहे, सब जीवोंके प्रति हमारा पवित्र परिणाम रहे, किसीको भी कष्ट मेरी चाहसे न आये, ऐसी वृत्ति बनाना हम सबका कर्तव्य है। यों मनको वशमें रखने वाले साधुजन चारों प्रकारकी कषायों का परिहार करते हैं।

मनुष्यको मनोगुप्तिकी आवश्यकता— संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय पाकर भी इस जीवको मनकी हैरानीसे इतना विह्वल होना पड़ता है कि जिसमें बहुत अधिक कर्मबन्ध हो जाया करता है, इतना कर्मबंध असंज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं कर सकता। चौइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, दोइन्द्रिय इन सबमें उत्तरोत्तर कर्मोंकी स्थिति कम बँधनेकी योग्यता है। सर्वाधिक कर्मोंकी स्थितिका बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय कर पाता है। यह मन बिगड़ता है तो ऐसा बिगड़ता है कि ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका महान कर्म यह ही बांधता है मनको वशमें करना यह शान्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। मनसे जैसा

नहीं, मौनपूर्वक चला गया। जब कारण विदित किया गया तो मालूम हुआ कि एक मुनिने यह कहा कि मेरे मनोगुप्ति सिद्ध नहीं हुई। त्रिगुप्ति धारक कहकर पुकारा था। उन्होंने कथा भी बताई। समय नहीं है और न प्रसंग है। एकने बताया था कि मेरे वचनगुप्ति सिद्ध नहीं है, एकने बताया कि मेरे कायगुप्ति सिद्ध नहीं है और जिसको तीनों गुप्तियां सिद्ध हो गयीं उसने सोचा कि त्रिगुप्तिधारक मुनिराज कहकर यह क्यों पुकार रही है। झट कारण जाना अवधिज्ञानसे, अशुद्ध स्थान है, यहां आहार नहीं लिया। तो यही वैभव और यही महान् पुरुषार्थ है। मनका वशमें रखना, मनका शुद्ध रखना, चारों कषायोंका परिहार करना—इसे मनोगुप्ति कहते हैं।

भैया! इतनी तो कमसे कम अपने लिए भी शिक्षा लें कि यदि मनसे सब प्राणियोंके हितकी बात सोची जाय तो उसमें तुम्हारा भला ही है, बिगाड़ कुछ नहीं है। तुम केवल भाव ही बना सकते हो। किसी दूसरे का कुछ कर नहीं सकते। जब केवल भाव बनाने तक ही तुम्हारी हद है तब शुद्ध भाव ही क्यों न बनाये जायें। सर्वप्राणियोंका हित सोचें. सर्वसुखी हों. शुद्ध दृष्टि बने, ज्ञानका उजेला पायें। ज्ञानसे बढ़कर इस जीवका लाभ लोकमें कुछ नहीं है। शुद्ध ज्ञान ही शरण है। बड़ी सम्पदा हो, राजपाट हो, फिर भी ज्ञान विपरीत है, अट्टसट्ट है, अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति है तो उसे चैन तो न मिलेगी, अशांति ही रहेगी। और कोई दूसरा धनहीन भी है अथवा धनका त्याग करके संन्यासी हुआ है, वह तो अपने आपमें ज्ञान-सुधारसका स्वाद लिया करता है। ज्ञान ही सुख शांतिका परम आधार है। इसलिए सही ज्ञान रहे, सब जीवोंके प्रति हमारा पवित्र परिणाम रहे, किसीको भी कष्ट मेरी चाहसे न आये, ऐसी वृत्ति बनाना हम सबका कर्तव्य है। यों मनको वशमें रखने वाले साधुजन चारों प्रकारकी कषायों का परिहार करते हैं।

मनुष्यको मनोगुप्तिकी आवश्यकता— संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय पाकर भी इस जीवको मनकी हैरानीसे इतना विह्वल होना पड़ता है कि जिसमें बहुत अधिक कर्मबन्ध हो जाया करता है, इतना कर्मबंध असंज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं कर सकता। चौइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, दोइन्द्रिय इन सबमें उत्तरोत्तर कर्मोंकी स्थिति कम बँधनेकी योग्यता है। सर्वाधिक कर्मोंकी स्थितिका बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय कर पाता है। यह मन बिगड़ता है तो ऐसा बिगड़ता है कि ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका महान कर्म यह ही बांधता है मनको वशमें करना यह शान्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। मनसे जैसा

पाया है ? हम अपने जगत्के जीवोंपर दृष्टि पसार कर देखें तो सही कि हम आपने कितनी ऊँची स्थिति पा ली है ? अब ऐसे अनुपम जीवनमें अपने आत्माके दर्शन और अनुभवका आनन्द न लूटा तो फिर काहेके लिए यह जीवन हुआ ? किसीसे कहा जाय कि हम तुम्हें दो दिनके लिए राजा बनाए देते हैं, दो दिन बाद तुम्हारे पास जो भी अट्टसट्ट है यह सब छीन कर तुम्हें तौलिया मात्र पहिना कर जंगलमें फेंक दिया जायेगा। ऐसे दो दिनके राज्यको कौन चाहेगा ? ऐसे ही यह मनुष्यभव क्या है ? दो दिनको राजा बन गया है। देखो ना बड़ेसे बड़ा बलवान भैंसों पर, ऊंटों पर हाथियों पर अपना राज्य चलाता है, अंकुश चलाता है, हुकूमत चला रहा है। राजा है यह मनुष्य। यह जब अन्य बड़े मनुष्यों पर दृष्टि डालता है तो अपनेको तुच्छ अनुभवने लगता है, किन्तु व्यापक दृष्टिसे लोकके सकल जीवों पर दृष्टि डालकर निहारो तो जरा, कितनी श्रेष्ठ स्थिति पायी है राजापनेकी ? पर बनाया तो है तुम्हें दो दिनका राजा, लेकिन इसके बाद तुम्हारे पास जो कुछ अट्टसट्ट है वह भी सब छुड़ाकर तुम्हें दुर्गतियोंमें पटक दिया जायेगा, ऐसी स्थिति मालूम हो तो कौन प्रसन्न होगा दो दिनके राज्यमें ?

विपदाके पूर्ववर्ती सुखमें क्या आराम— जिसे फांसीका हुक्म होता है उसे फांसी पर चढ़ानेसे पहिले, उसके आगे मिठाइयोंका थाल रक्खा जाता है, खूब छक्कर खाओ जीवनमें भी न देखा हो ऐसा मिष्टान्न तो उसे मिठाई खाना न रुचेगा, उसकी दृष्टि तो दूसरी जगह है। यों ही इस संसार महावनमें बड़ी-बड़ी दुर्गतियां हो रही हैं, ऐसी स्थितियोंके बीचमें जिस ज्ञानी संत पुरुषको संसारकी असारता विदित है उसे अनेक भोग साधन भी प्राप्त हो जायें तो क्या वह उनमें चैन मानेगा ? नहीं मानेगा।

निर्मोहताकी प्रतिमूर्ति— साधुसंत क्या हैं ? भगवानकी एक प्रतिमूर्ति हैं। भगवानकी मुद्रा और साधुकी मुद्रा दोनों एक प्रकार हैं सो ही निर्ग्रन्थ भगवान्, सो ही निर्ग्रन्थ साधु। बाह्य तो एक रूप है, और यदि कोई अंतरंगमें गृहस्थसे भी गया बीता हो तो उसमें फिर क्या बात हुई ? कुछ भी नहीं। किन्तु अन्तरंगसे प्रभुसे होड़ लगाये हुए हो, वीतरागताकी प्रगतिमें चल रहा हो वह साधु तो भगवानकी प्रतिमूर्ति है। ऐसे साधु संतोंके मोहका परिहार होता है। जहां मोहका परिहार है वहां मनोगुप्ति है।

मनोगुप्तिमें आहार संज्ञाके परिहारमें— जहां संज्ञाओंका परिहार है वहां मनोगुप्ति है। संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह। आहारविषयक वाञ्छा होना सो आहार संज्ञा है। इससे पहिले एषणा

पाया है ? हम अपने जगत्‌के जीवोंपर दृष्टि पसार कर देखें तो सही कि
हम आपने कितनी ऊँची स्थिति पा ली है ? अब ऐसे अनुपम जीवनमें
अपने आत्माके दर्शन और अनुभवका आनन्द न लूटा तो फिर काहेके
लिए यह जीवन हुआ ? किसीसे कहा जाय कि हम तुम्हें दो दिनके लिए
राजा बनाए देते हैं, दो दिन बाद तुम्हारे पास जो भी अट्टसट्ट है यह सब
छीन कर तुम्हें तौलिया मात्र पहिना कर जंगलमें फेंक दिया जायेगा।
ऐसे दो दिनके राज्यको कौन चाहेगा ? ऐसे ही यह मनुष्यभव क्या है ?
दो दिनको राजा बन गया है। देखो ना, बड़ेसे बड़ा बलवान भैंसों पर, ऊंटों
पर हाथियों पर अपना राज्य चलाता है, अंकुश चलाता है, हुकूमत चला
रहा है। राजा है यह मनुष्य। यह जब अन्य बड़े मनुष्यों पर दृष्टि डालता
है तो अपनेको तुच्छ अनुभवने लगता है, किन्तु व्यापक दृष्टिसे लोकके
सकल जीवों पर दृष्टि डालकर निहारो तो जरा, कितनी श्रेष्ठ स्थिति
पायी है राजापनेकी ? पर बनाया तो है तुम्हें दो दिनका राजा, लेकिन
इसके बाद तुम्हारे पास जो कुछ अट्टसट्ट है वह भी सब छुड़ाकर तुम्हें
दुर्गतियोंमें पटक दिया जायेगा, ऐसी स्थिति मालूम हो तो कौन प्रसन्न
होगा दो दिनके राज्यमें ?

विपदाके पूर्ववर्ती सुखमें क्या आराम— जिसे फांसीका हुक्म होता
है उसे फांसी पर चढ़ानेसे पहिले, उसके आगे मिठाइयोंका थाल रक्खा
जाता है, खूब छक्कर खाओ जीवनमें भी न देखा हो ऐसा मिष्टान्न तो उसे
मिठाई खाना न रुचेगा, उसकी दृष्टि तो दूसरी जगह है। यों ही इस संसार
महाबनमें बड़ी-बड़ी दुर्गतियां हो रही हैं, ऐसी स्थितियोंके बीचमें जिस
ज्ञानी संत पुरुषको संसारकी असारता विदित है उसे अनेक भोग साधन
भी प्राप्त हो जायें तो क्या वह उनमें चैन मानेगा ? नहीं मानेगा।

निर्मोहताकी प्रतिमूर्ति— साधुसंत क्या हैं ? भगवानकी एक प्रति-
मूर्ति है। भगवानकी मुद्रा और साधुकी मुद्रा दोनों एक प्रकार हैं सो ही
निर्ग्रन्थ भगवान, सो ही निर्ग्रन्थ साधु। बाह्य तो एक रूप है, और यदि
कोई अंतरंगमें गृहस्थसे भी गया बीता हो तो उसमें फिर क्या बात हुई ?
कुछ भी नहीं। किन्तु अन्तरंगसे प्रभुसे होड़ लगाये हुए हो, वीतरागताकी
प्रगतिमें चल रहा हो वह साधु तो भगवानकी प्रतिमूर्ति है। ऐसे साधु संतों
के मोहका परिहार होता है। जहां मोहका परिहार है वहां मनोगुप्ति है।

मनोगुप्तिमें आहार संज्ञाके परिहारमें— जहां संज्ञावोंका परिहार
है वहां मनोगुप्ति है। संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह।
आहारविषयक वाञ्छा होना सो आहार संज्ञा है। इससे पहिले एषणा

धर्मकी ओटमें पापका प्रसार— एक किसान था। उसके थे तीन बैल। ऐसी हालतमें तो दो ही बैल जुतेंगे, सो एक बैलको घरमें बांध आता था और बांध जाता था आंगनमें, जिस जगह उस जगहकी भीतमें एक अलमारी थी, जिसमें किवाड़ भी लगे थे, सांकर भी लगी थी। सो जाते समय वह दाल रोटी चावल उस अलमारीमें धर जाना था, सांकर लगा देता था। जब वह खेतोंसे वापिस आता था तो देखे कि अलमारीमें कुछ नहीं है। और यह देखे कि बैलका मुँह दालसे भिड़ा हुआ है। होता क्या था कि एक बंदर आया करता था, वह धीरेसे सांकर किवाड़ खोले और भोजन कर जाय, अंतमें जो दाल चावल बच जाय उसे उस बैलके मुखमें लगा दे। कुछ दिनों तक वह देखता रहा। एक रोज उसे बड़ा गुस्सा आया सो वह उस बैलको पीटने लगा। किन्तु पड़ौसियोंने कहा कि इतनी निर्दयतासे तू इस बैलको क्यों पीटता है? वह बोला—अरे पीटें नहीं तो क्या करें। हम रोज-रोज भोजन बनाकर रख जाते और यह बैल रोज इस अलमारीसे निकाल कर खा जाता है। लोगोंने कहा अरे ऐसा कैसे हो सकता है? इसमें सांकर लगी रहती है, अलमारी ऊँची है वह कैसे खा लेता है? किसान ने कहा देखो ना मुखमें दाल रोज लगी रहती है। तो पड़ौसियोंने समझाया कि यह बात नहीं है, किसी दिन छिपकर देख लो कि मामला क्या है? छिपकर उसने देखा तो क्या देखा कि धीरेसे एक बंदर आता है वह जंजीर खोलकर किवाड़ खोलकर सारा भोजन खा जाता है और बचे हुए दाल चावलको अंतमें बैलके मुखपर लगा देता है।

अप्रभावनाका कारण पाप— तो प्रयोजन इसमें इतना है कि जैसे बंदरकी करतूतसे बैल पिटा, ऐसे ही पापकी करतूतसे धर्म पिटता है धर्ममें दोष नहीं है। धर्म तो आनन्द और शांतिके लिए है। भला साधु हो गये, नदीके तट पर रहने लगे, संन्यासी हो गये, ठीक है। संन्यासी इस लिए हुए कि सर्वचितावोंको छोड़कर अपने आपके शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का खूब चिंतन करें और शुद्ध आनन्दका अनुभव किया करें। ज्ञाताद्रष्टा रहें, यह है संन्यासी होनेका उद्देश्य। पर जब यह प्रवृत्ति चल जाय कि कोई बहू बेटी वहांसे निकल आये या कोई पुरुष निकल आये तो उससे कुछ छल करे, कुछ अनुचित वृत्तियां करे तो साधु समाजकी बदनामी हो जाती है। कैसे साधुसमाज आज हो गये है कि लोग कहते हैं कि फलाने तीर्थपर जानेका तो धर्म ही नहीं है, न जाने कोई कैसे फंस जाय, किसीके चंगुलमें आ जाय, यह अपवाद बन गया। यह धर्मका अपवाद नहीं है। धर्मकी ओटमें जो पापका प्रसार होता है उसकी करतूत है।

धर्मकी ओटमें पापका प्रसार— एक किसान था। उसके थे तीन बैल। ऐसी हालतमें तो दो ही बैल जुतेंगे, सो एक बैलको घरमें बांध आता था और बांध जाता था आंगनमें, जिस जगह उस जगहकी भींतमें एक अलमारी थी, जिसमें किवाड़ भी लगे थे, सांकर भी लगी थी। सो जाते समय वह दाल रोटी चावल उस अलमारीमें धर जाना था, सांकर लगा देता था। जब वह खेतोंसे वापिस आता था तो देखे कि अलमारीमें कुछ नहीं है। और यह देखे कि बैलका मुँह दालसे भिड़ा हुआ है। होता क्या था कि एक वंदर आया करता था, वह धीरेसे सांकर किवाड़ खोले और भोजन कर जाय, अंतमें जो दाल चावल बच जाय उसे उस बैलके मुखमें लगा दे। कुछ दिनों तक वह देखता रहा। एक रोज उसे बड़ा गुस्सा आया सो वह उस बैलको पीटने लगा। किन्तु पड़ौसियोंने कहा कि इतनी निर्दयतासे तू इस बैलको क्यों पीटता है? वह बोला—अरे पीटें नहीं तो क्या करें। हम रोज-रोज भोजन बनाकर रख जाते और यह बैल रोज इस अलमारीसे निकाल कर खा जाता है। लोगोंने कहा अरे ऐसा कैसे हो सकता है? इसमें सांकर लगी रहती है, अलमारी ऊँची है वह कैसे खा लेता है? किसान ने कहा देखो ना मुखमें दाल रोज लगी रहती है। तो पड़ौसियोंने समझाया कि यह बात नहीं है, किसी दिन छिपकर देख लो कि मामला क्या है? छिपकर उसने देखा तो क्या देखा कि धीरेसे एक वंदर आता है वह जंजीर खोलकर किवाड़ खोलकर सारा भोजन खा जाता है और बचे हुए दाल चावलको अंतमें बैलके मुखपर लगा देता है।

अप्रभावनाका कारण पाप— तो प्रयोजन इसमें इतना है कि जैसे वंदरकी करतूतसे बैल पिटा, ऐसे ही पापकी करतूतसे धर्म पिटता है धर्ममें दोष नहीं है। धर्म तो आनन्द और शांतिके लिए है। भला साधु हो गये, नदीके तट पर रहने लगे, संन्यासी हो गये, ठीक है। संन्यासी इस लिए हुए कि सर्वचितावोंको छोड़कर अपने आपके शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का खूब चिंतन करें और शुद्ध आनन्दका अनुभव किया करें। ज्ञाताद्रष्टा रहें, यह है संन्यासी होनेका उद्देश्य। पर जब यह प्रवृत्ति चल जाय कि कोई बहू बेटी वहांसे निकल आये या कोई पुरुष निकल आये तो उससे कुछ छल करे, कुछ अनुचित वृत्तियां करे तो साधु समाजकी बदनामी हो जाती है। कैसे साधुसमाज आज हो गये हैं कि लोग कहते हैं कि फलाने तीर्थपर जानेका तो धर्म ही नहीं है, न जाने कोई कैसे फंस जाय, किसीके चंगुलमें आ जाय, यह अपवाद बन गया। यह धर्मका अपवाद नहीं है। धर्मकी ओटमें जो पापका प्रसार होता है उसकी करतूत है।

भयसंज्ञाके परिहारमें मनोगुप्ति-- जहां भय संज्ञाका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति है। भय लगा हुआ हो और मन वश रहे, यह कभ ही नहीं सकता। मनोगुप्ति जहां है वहां भयका नाम कहां है ? निर्भय हों तो स्वरक्षा है, मनकी गुप्ति है। इस मोही प्राणीके निरन्तर भय बना रहता है। कोई भय जब अधिक डिग्रीपर पहुंचता है तब अनुभवमें आता है। अनेक भय अनगिनते भय इस मोहीमें आते हैं और उन्हें वह महसूस भी नहीं कर पाता है। परपदार्थोंमें यदि राग है तो भय भी नियमसे होता है, चाहे वह कितनी ही मात्राका भय हो। ज्ञानीसंत जानता है कि मेरा आत्मतत्त्व समस्त परभावोंसे विविक्त केवल चैतन्यस्वरूप मात्र है। मैं तो मात्र इतना ही हूं, इससे अधिक मैं कुछ नहीं हूं। इससे जो अधिक है वह सब व्यवहारखातेका हिसाब है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। साधु पुरुष निर्भय है और निर्भयताके कारण मनोगुप्तिमें प्रगतिशील है।

मैथुनसंज्ञाके परिहारमें मनोगुप्ति— जहां मैथुनसंज्ञाका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति आती है। कामवासनाका भाव जब कुछ अधिक बढ़ जाता है तब वह महसूस होता है, उसका पता पड़ता है किन्तु कामकी भी अनेक डिग्रियां अनेकों अनगिनती हैं ऐसी कि जिनके होने पर भी यह जीव मालूम ही नहीं कर पाता कि मेरे कामभाव चल रहा है। जब उसकी अधिक मात्रा होती है तब इसे पता पड़ता है कि कामवेदनाका अनुभव होता है तथा विवेक जागृत हो तो सोचता है-- ओह यह मैं अनुचित भाव वाला हो रहा हूं। पशु पक्षी कीड़ा मकौड़ा इन सबके काम भाव हैं, ये क्या महसूस करें ? साल दो सालके बच्चे ६ माहके बच्चे इनमें भी कामभाव है, पर ये भी महसूस नहीं कर पाते। कामभावका जहां परिहार है वहां ही मन वशमें है। लोग कहते हैं कि हमारा मन वश नहीं है, कोई उपाय बतावो कि हमारा मन वश रहे, यहां वहां न डोले। जब स्वयं अपराधी है तो मन वशमें कहां रहेगा ?

अपराध, फल व निवृत्तिका उपाय-- देखो डाकुवोंका मन अत्यन्त अस्थिर रहता है, वे किसी ठिकाने बैठ नहीं पाते हैं क्यों कि उन्होंने अक्षम्य अपराध किया है। आहारकी संज्ञा, भयका संस्कार, मैथुनकी वाञ्छा, परिग्रहका लगाव—ये भी महान् अपराध हैं। इतने बड़े अपराध को करने वाला यह अपने मनको कैसे स्थिर रख सकेगा ? अपराधको दूर करें फिर मन स्थिर न हो तब तुम्हारी शिकायत हो कि मेरा मन स्थिर नहीं है। यत्न करें अपराधके दूर करनेका। वह यत्न है वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान। प्रत्येक जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न है, द्रव्य गुणपर्याय

भयसंज्ञाके परिहारमें मनोगुप्ति-- जहां भय संज्ञाका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति है। भय लगा हुआ हो और मन वश रहे, यह कभी हो नहीं सकता। मनोगुप्ति जहां है वहां भयका नाम कहां है? निर्भय हों तो स्वरक्षा है, मनकी गुप्ति है। इस मोही प्राणीके निरन्तर भय बना रहता है। कोई भय जब अधिक डिग्रीपर पहुंचता है तब अनुभवमें आता है। अनेक भय अनगिनते भय इस मोहीमें आते हैं और उन्हें वह महसूस भी नहीं कर पाता है। परपदार्थोंमें यदि राग है तो भय भी नियमसे होता है, चाहे वह कितनी हो मात्राका भय हो। ज्ञानीसंत जानता है कि मेरा आत्मतत्त्व समस्त परभावोंसे विविक्त केवल चैतन्यस्वरूप मात्र है। मैं तो मात्र इतना ही हूं, इससे अधिक मैं कुछ नहीं हूं। इससे जो अधिक है वह सब व्यवहारखातेका हिसाब है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। साधु पुरुष निर्भय है और निर्भयताके कारण मनोगुप्तिमें प्रगतिशील है।

मैथुनसंज्ञाके परिहारमें मनोगुप्ति— जहां मैथुनसंज्ञाका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति आती है। कामवासनाका भाव जब कुछ अधिक बढ़ जाता है तब वह महसूस होता है, उसका पता पड़ता है किन्तु कामकी भी अनेक डिग्रियां अनेकों अनगिनती हैं ऐसी कि जिनके होने पर भी यह जीव मालूम ही नहीं कर पाता कि मेरे कामभाव चल रहा है। जब उसकी अधिक मात्रा होती है तब इसे पता पड़ता है कि कामवेदनाका अनुभव होता है तथा विवेक जागृत हो तो सोचता है-- ओह यह मैं अनुचित भाव वाला हो रहा हूं। पशु पक्षी कीड़ा मकौड़ा इन सबके काम भाव है, ये क्या महसूस करें? साल दो सालके बच्चे ६ माहके बच्चे इनमें भी कामभाव है, पर ये भी महसूस नहीं कर पाते। कामभावका जहां परिहार है वहां ही मन वशमें है। लोग कहते हैं कि हमारा मन वश नहीं है, कोई उपाय बतावो कि हमारा मन वश रहे, यहां वहां न डोले। जब स्वयं अपराधी है तो मन वशमें कहां रहेगा?

अपराध, फल व निवृत्तिका उपाय-- देखो डाकुवोंका मन अत्यन्त अस्थिर रहता है, वे किसी ठिकाने बैठ नहीं पाते हैं क्यों कि उन्होंने अक्षम्य अपराध किया है। आहारकी संज्ञा, भयका संस्कार, मैथुनकी वाञ्छा, परिग्रहका लगाव—ये भी महान् अपराध हैं। इतने बड़े अपराध को करने वाला यह अपने मनको कैसे स्थिर रख सकेगा? अपराधको दूर करें फिर मन स्थिर न हो तब तुम्हारी शिकायत हो कि मेरा मन स्थिर नहीं है। यत्न करें अपराधके दूर करनेका। वह यत्न है वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान। प्रत्येक जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न है, द्रव्य गुणपर्याय

है, देशमें कहीं जावे तो वहां चैन नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो वहां पहुंचे तो वहां भी चैन नहीं। अरे आत्मन् हे मूढ़, हे मोही, हे पर्याय के आशक्त, हे आत्मघाती तू बाहरमें चैन कहां ढूंढने चला है? तू स्वयं आनन्दमय है। बाहरकी आशा तज दे, अपने ही अंतःस्वरूपको निहार ले, तुझे तो प्राकृतिक देन है कि तू चैनमें रहे। वस्तुस्वरूपके विपरीत श्रद्धानी को कहीं चैन नहीं है। सर्वत्र विडम्बना है, सर्वत्र आपत्ति है।

बेवकूफको फजीहतकी चिन्ता क्यों— एक मियां बीबी थे। मियां जी का नाम था बेवकूफ और स्त्रीका नाम था फजीहत। प्रायः दोनोंमें लड़ाई हो जाया करती थी और थोड़ी ही देरमें दोस्ती हो जाती थी। एक बार ऐसी लड़ाई हुई कि फजीहत घर छोड़कर भग गयी। तो बेवकूफ पड़ौसियोंसे पूछता फिरता है कि तुमने हमारी फजीहत देखी? लोग जानते थे कि फजीहत इसकी स्त्रीका नाम है सो कह दिया कि हमने नहीं देखी। इसी तरह उसने दसोंसे वही बात पूछी। एक बार किसी परदेशी अपरिचितसे पूछ बैठा कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? उसकी समझमें कुछ आया नहीं सो वह पूछता है कि तुम्हारा नाम क्या है? मियां साहब बोले कि मेरा नाम बेवकूफ है। तो अपरिचित पुरुष कहता है कि बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतकी तलाश कर रहे हो। अरे बेवकूफ को तो जगह-जगह फजीहत मिल जाती है। जहां ही औंधासीधा बोल दिया, वहां ही जूता, घूँसा, लाठी खानेको मिल गये। बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतकी चिंता क्यों करते हो?

मुग्धबुद्धिकी विडम्बनायें— ऐसे ही मोही जीवोंमें चूँकि मुग्धबुद्धि है इसके कारण इसे जगह-जगह विडम्बनाएँ हैं, कहीं जावे, कहीं बैठे इसे सर्वत्र विपदा है। कहां जायेगा? किसी स्थानपर जानेसे सुख दुःखमें अन्तर नहीं आता। परिणामोंमें अन्तर आनेसे सुख दुःखमें अन्तर आया करता है। यह ज्ञानी संत यथार्थस्वरूपका ज्ञाता है। इसके बलको कौन कह सकता है? लोग कहते हैं कि ऐटमबममें बड़ी ताकत है। ऐटमको अंग्रेजीमें लिखो कैसे लिखते हो? उसी का नाम है आतम। अरे आत्मामें बल है, ऐटममें क्या बल है? आत्माके बलकी कुछ कथनी नहीं की जा सकती। अभी-अभी आपके आंखोंके आगे ही गांधी जैसे नेतावोंने यह प्रदर्शित कर दिया कि हथियार न होने पर भी, धन पैसा न होने पर भी एक आत्माका यदि बल है तो उस आत्मबलसे इतना बड़ा एक वातावरण किया जा सकता है, साम्राज्य लिया जा सकता है।

पुनीत आत्माकी भक्तिमें यत्न— कोई पवित्रात्मा विभावका समूल

है, देशमें कहीं जावे तो वहां चैन नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो वहां पहुंचे तो वहां भी चैन नहीं। अरे आत्मन् हे मूढ़, हे मोही, हे पर्याय के आशक्त, हे आत्मघाती तू बाहरमें चैन कहां ढूंढने चला है? तू स्वयं आनन्दमय है। बाहरकी आशा तज दे, अपने ही अंतःस्वरूपको निहार ले, तुझे तो प्राकृतिक देन है कि तू चैनमें रहे। वस्तुस्वरूपके विपरीत श्रद्धानी को कहीं चैन नहीं है। सर्वत्र विडम्बना है, सर्वत्र आपत्ति है।

बेवकूफको फजीहतकी चिन्ता क्यों— एक मियां बीबी थे। मियां जी का नाम था बेवकूफ और स्त्रीका नाम था फजीहत। प्रायः दोनोंमें लड़ाई हो जाया करती थी और थोड़ी ही देरमें दोस्ती हो जाती थी। एक बार ऐसी लड़ाई हुई कि फजीहत घर छोड़कर भग गयी। तो बेवकूफ पड़ोसियोंसे पूछता फिरता है कि तुमने हमारी फजीहत देखी? लोग जानते थे कि फजीहत इसकी स्त्रीका नाम है सो कह दिया कि हमने नहीं देखी। इसी तरह उसने दसोंसे वही बात पूछी। एक बार किसी परदेशी अपरिचितसे पूछ बैठा कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? उसकी समझमें कुछ आया नहीं सो वह पूछता है कि तुम्हारा नाम क्या है? मियां साहब बोले कि मेरा नाम बेवकूफ है। तो अपरिचित पुरुष कहता है कि बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतकी तलाश कर रहे हो। अरे बेवकूफ को तो जगह-जगह फजीहत मिल जाती है। जहां ही औंधासीधा बोल दिया, वहां ही जूता, घूँसा, लाठी खानेको मिल गये। बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतकी चिंता क्यों करते हो?

मुग्धबुद्धिकी विडम्बनायें— ऐसे ही मोही जीवोंमें चूँकि मुग्धबुद्धि है इसके कारण इसे जगह-जगह विडम्बनाएँ हैं, कहीं जावे, कहीं बैठे इसे सर्वत्र विपदा है। कहां जायेगा? किसी स्थानपर जानेसे सुख दुःखमें अन्तर नहीं आता। परिणामोंमें अन्तर आनेसे सुख दुःखमें अन्तर आया करता है। यह ज्ञानी संत यथार्थस्वरूपका ज्ञाता है। इसके बलको कौन कह सकता है? लोग कहते हैं कि ऐटमबममें बड़ी ताकत है। ऐटमको अंग्रेजीमें लिखो कैसे लिखते हो? उसी का नाम है आतम। अरे आत्मामें बल है, ऐटममें क्या बल है? आत्माके बलकी कुछ कथनी नहीं की जा सकती। अभी-अभी आपके आंखोंके आगे ही गांधी जैसे नेतावोंने यह प्रदर्शित कर दिया कि हथियार न होने पर भी, धन पैसा न होने पर भी एक आत्माका यदि बल है तो उस आत्मबलसे इतना बड़ा एक वातावरण किया जा सकता है, साम्राज्य लिया जा सकता है।

पुनीत आत्माकी भक्तिमें यत्न-- कोई पवित्रात्मा विभावका समूल

हैं। सर्वप्रयत्न करके अपनी मनोगुप्तिको संभालना चाहिए।

साधुपुरुषके रागद्वेषका परिहार— मनकी गतिको स्वरूपानुभवके विरुद्ध जानकर इस मनको वशमें रखनेके उद्यमी साधुसंत जन सदा सावधान रहते हैं। जिन कृत्योंमें राग और द्वेषकी प्रवृत्ति विदित होती है उसे वे दूर कर देते हैं। ऐसे प्रसंगोंमें रागद्वेषकी बातकी कथा दूर रही, जब कोई भी धर्मचर्चा करता है और उस चर्चाके मध्य कभी कोई बात समताकी सीमासे कुछ अधिक हो जाती है अथवा होने लगती है यह उस धर्मचर्चा को भी समाप्त कर देता है। जिस प्रसंगमें राग अथवा द्वेषकी स्थिति हो वह धर्मचर्चा नहीं है। वह तो अपनी हठोंका पक्षोंका इच्छाका संपादन करना है। धर्मचर्चाके समय यदि कोई अपनी बात नहीं मानता है और उसपर अपनेको खेद होता है तो यह अपना अपराध है। यदि वहां खेद होता है तो समझो कुछ धर्मचर्चा न कर रहा था वह, किन्तु अपनी हठचर्चा कर रहा था तब उसे दुःख हुआ। यदि वह मात्र धर्मचर्चा होती तो न मानने पर कुछ भी विषाद न होता। ज्ञाताद्रष्टा रहना। जगतमें अनन्त जीव तो हैं जो धर्मसे विमुख हैं। एक जीवने, दो जीवोंने बात न मानी उसका इतना बड़ा विषाद बन जाना, यह तो मोहको जाहिर करता है। धर्मचर्चा के प्रसंगमें साधुसंतोंके राग और द्वेष नहीं रहता है।

मनोगुप्तिमें शुभ अशुभ दोनों रागोंका परिहार— राग दो तरहके होते हैं। एक शुभ राग, दूसरा अशुभराग। शुभराग तो वह है जहां धर्ममें लगनेका कुछ प्रसंग है। गुरुभक्ति, देवपूजन, स्वाध्यायकी व्यवस्था, सत्संग परोपकार, दान आदिक ये सब शुभ राग हैं। अशुभ राग वह है जिसके माध्यमसे विषय और कषायोंको बल मिलता है। अशुभ रागकी बात अधिक क्या कहें सारा जहान प्रायः अशुभ रागमें ही लीन है। मनोगुप्ति वहां ही संभव है जहां शुभराग और अशुभराग दोनोंका परिहार है। ज्ञानी संतोंको अपने आपके उस शुद्धस्वरूपके जौहरका इतना अधिक परिचय है कि उसे शुभराग भी यों दिखता है जैसे लोग कहते हैं—ऐसा सोना किस कामका जो नाक कानको फाड़ दे।

शुभरागमें रागके आशयकी कथा— भैया! शुभरागमें जिन्हें राग है उनकी कथा भी थोड़ी सुन लीजिये। शुभरागसे ही हमारा कल्याण है, हमें यह राग करना ही चाहिए। इस रागसे ही मेरा बड़प्पन है सो राग छोड़नेका स्वप्नमें भी ध्यान नहीं रखते हैं। वे मिथ्याबुद्धि वाले हैं, उनकी दृष्टि ही विपरीत है। जो व्यक्ति सीधा शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका लक्ष्य न रक्खें वह दृष्टि सही दृष्टि नहीं है। निज सहजस्वरूपको छोड़कर अपनेको नाना

हैं। सर्वप्रयत्न करके अपनी मनोगुप्तिको संभालना चाहिए।

साधुपुरुषके रागद्वेषका परिहार— मनकी गतिको स्वरूपानुभवके विरुद्ध जानकर इस मनको वशमें रखनेके उद्यमी साधुसंत जन सदा सावधान रहते हैं। जिन कृत्योंमें राग और द्वेषकी प्रवृत्ति विदित होती है उसे वे दूर कर देते हैं। ऐसे प्रसंगोंमें रागद्वेषकी बातकी कथा दूर रही, जब कोई भी धर्मचर्चा करता है और उस चर्चाके मध्य कभी काई बात समताकी सीमासे कुछ अधिक हो जाती है अथवा होने लगती है यह उस धर्मचर्चा को भी समाप्त कर देता है। जिस प्रसंगमें राग अथवा द्वेषकी स्थिति हो वह धर्मचर्चा नहीं है। वह तो अपनी हठोंका पक्षोंका इच्छाका संपादन करना है। धर्मचर्चाके समय यदि कोई अपनी बात नहीं मानता है और उसपर अपनेको खेद होता है तो यह अपना अपराध है। यदि वहां खेद होता है तो समझो कुछ धर्मचर्चा न कर रहा था वह, किन्तु अपनी हठचर्चा कर रहा था तब उसे दुःख हुआ। यदि वह मात्र धर्मचर्चा होती तो न मानने पर कुछ भी विषाद न होता। ज्ञातादृष्टा रहना। जगतमें अनन्त जीव तो हैं जो धर्मसे विमुख हैं। एक जीवने, दो जीवोंने बात न मानी उसका इतना बड़ा विषाद बन जाना, यह तो मोहको जाहिर करता है। धर्मचर्चा के प्रसंगमें साधुसंतोंके राग और द्वेष नहीं रहता है।

मनोगुप्तिमें शुभ अशुभ दोनों रागोंका परिहार— राग दो तरहके होते हैं। एक शुभ राग, दूसरा अशुभराग। शुभराग तो वह है जहां धर्ममें लगनेका कुछ प्रसंग है। गुरुभक्ति, देवपूजन, स्वाध्यायकी व्यवस्था, सत्सग परोपकार, दान आदिक ये सब शुभ राग हैं। अशुभ राग वह है जिसके माध्यमसे विषय और कषायोंको बल मिलता है। अशुभ रागकी बात अधिक क्या कहें सारा जहान प्रायः अशुभ रागमें ही लीन है। मनोगुप्ति वहां ही संभव है जहां शुभराग और अशुभराग दोनोंका परिहार है। ज्ञानी संतोंको अपने आपके उस शुद्धस्वरूपके जौहरका इतना अधिक परिचय है कि उसे शुभराग भी यों दिखता है जैसे लोग कहते हैं—ऐसा सोना किस कामका जो नाक कानको फाड़ दे।

शुभरागमें रागके आशयकी कथा— भैया! शुभरागमें जिन्हें राग है उनकी कथा भी थोड़ी सुन लीजिये। शुभरागसे ही हमारा कल्याण है, हमें यह राग करना ही चाहिए। इस रागसे ही मेरा बड़प्पन है सो राग छोड़नेका स्वप्नमें भी ध्यान नहीं रखते हैं। वे मिथ्याबुद्धि वाले हैं, उनकी दृष्टि ही विपरीत है। जो व्यक्ति सीधा शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका लक्ष्य न रक्खें वह दृष्टि सही दृष्टि नहीं है। निज सहजस्वरूपको छोड़कर अपनेको नाना

अन्तरका परिणाम मलिन होगा तो उन पदार्थोंमें किसीको इष्ट मान लेते हैं और किसी पदार्थको अनिष्ट मान लेते हैं।

धर्मपात्रताके लिये नीतिशास्त्रका वर्णन— नीतिशास्त्रमें लिखा है कि धर्मको वही पाल सकता है जो ऐसा हृदय बनाये हुए है कि मृत्यु मेरे केशोंको पकड़े हुए बैठी है, न जाने कब झकझोर दे और मुझे इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा। नीतिशास्त्र कहता है कि विद्या और धन, इन दोनोंका उपार्जन तो तब किया जा सकता है जब यह जानें कि मैं अजर अमर हूं, न मैं बूढ़ा होऊँगा, न मरूँगा—ऐसी पूर्ण दृष्टि न हो तो थोड़ी बहुत भी हो तो धन कमा सकते हैं और विद्या प्राप्त कर सकते हैं। कोई ऐसा ही विश्वास लिए हो कि हम तो आज ही मर जायेंगे तो वह सोचेगा कि धन क्यों कमायें और ये व्याकरणके जीवस्थानके शास्त्र काहेको पढ़ें, शामको तो मरण ही हो जायेगा, तो जिसे अपने आपके ध्यानमें अजरत्व और अमरत्वकी बात नहीं है वह विद्या और धनका संचय नहीं कर सकता है। इसी प्रकार जिसको यह विश्वास न हो कि मृत्यु मेरे केशोंको पकड़े हुए बैठी हुई है, जब चाहे उठा ले जाय, ऐसी मनमें बात न जमे तो धर्मका पालन भी उत्तम रीतिसे नहीं हो सकता।

विवेकमें धर्मकी प्रतीक्षा— भैया ! जरा इसका अंदाज ही कर लो। जब कोई कठिन बीमारी हो जाती है, जिसमें यह दिखता है कि अब तो मेरी मौत होने वाली है उस समय धन वैभव परिजन वगैरह कुछ नहीं रुचते हैं और यह इच्छा होती है कि कुछ समय और जीवित रहता तो मैं केवल धर्म ही धर्मका प्रोग्राम रखता। उन सुभटोंकी बात नहीं कह रहे हैं कि जो मरनेके समय भी आत्महितकी रंच भी कल्पना नहीं लाते। उन्हें विषयोंकी प्रीति ही सुहाती है। मरते समय भी कहते हैं कि मेरी स्त्रीसे मिला दो, पुत्रसे मिला दो जिससे आंखें तृप्त हो जायें। ऐसे विषय कषायोंके प्रेमी सुभटोंकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जिनमें जरा भी विवेक है उनको मृत्युके समय धर्मकी चाह होती है। धन वैभव परिवार इन सब की रुचि नहीं रहती है।

धर्मकी उन्मुखतामें मनोगुप्तिकी संभवता— धर्म है ज्ञाताद्रष्टा रहना अर्थात् रागद्वेष मोहके मलिन परिणाम न होने देना। इस ओर जिनकी उन्मुखता होती है उनका मन वश हो जाता है। यह बात उनके ही सम्भव है जो वस्तुस्वरूपके यथार्थ विज्ञानी हैं। वे ही मनोगुप्तिका पालन कर सकते हैं। मनोगुप्तिके सम्बन्धमें उत्कृष्ट बात तो यह है कि चिंतन सब रोक दें और अनुत्कृष्ट बात यह है कि अशुभ चिंतनको बिलकुल समाप्त कर दें।

अन्तरका परिणाम मलिन होगा तो उन पदार्थोंमें किसीको इष्ट मान लेते हैं और किसी पदार्थको अनिष्ट मान लेते हैं।

धर्मपात्रताके लिये नीतिशास्त्रका वर्णन— नीतिशास्त्रमें लिखा है कि धर्मको वही पाल सकता है जो ऐसा हृदय बनाये हुए है कि मृत्यु मेरे केशोंको पकड़े हुए बैठी है, न जाने कब झकझोर दे और मुझे इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा। नीतिशास्त्र कहता है कि विद्या और धन, इन दोनोंका उपार्जन तो तब किया जा सकता है जब यह जानें कि मैं अजर अमर हूं, न मैं बूढ़ा होऊँगा, न मरूँगा—ऐसी पूर्ण दृष्टि न हो तो थोड़ी बहुत भी हो तो धन कमा सकते हैं और विद्या प्राप्त कर सकते हैं। कोई ऐसा ही विश्वास लिए हो कि हम तो आज ही मर जायेंगे तो वह सोचेगा कि धन क्यों कमायें और ये व्याकरणके जीवस्थानके शास्त्र काहेको पढ़ें, शामको तो मरण ही हो जायेगा, तो जिसे अपने आपके ध्यानमें अजरत्व और अमरत्वकी बात नहीं है वह विद्या और धनका संचय नहीं कर सकता है। इसी प्रकार जिसको यह विश्वास न हो कि मृत्यु मेरे केशोंको पकड़े हुए बैठी हुई है, जब चाहे उठा ले जाय, ऐसी मनमें बात न जमे तो धर्मका पालन भी उत्तम रीतिसे नहीं हो सकता।

विवेकमें धर्मकी प्रतीक्षा— भैया! जरा इसका अंदाज ही कर लो। जब कोई कठिन बीमारी हो जाती है, जिसमें यह दिखता है कि अब तो मेरी मौत होने वाली है उस समय धन वैभव परिजन वगैरह कुछ नहीं रुचते हैं और यह इच्छा होती है कि कुछ समय और जीवित रहता तो मैं केवल धर्म ही धर्मका प्रोग्राम रखता। उन सुभटोंकी बात नहीं कह रहे हैं कि जो मरनेके समय भी आत्महितकी रंच भी कल्पना नहीं लाते। उन्हें विषयोंकी प्रीति ही सुहाती है। मरते समय भी कहते हैं कि मेरी स्त्रीसे मिला दो, पुत्रसे मिला दो जिससे आंखें तृप्त हो जायें। ऐसे विषय कषायोंके प्रेमी सुभटोंकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जिनमें जरा भी विवेक है उनको मृत्युके समय धर्मकी चाह होती है। धन वैभव परिवार इन सब की रुचि नहीं रहती है।

धर्मकी उन्मुखतामें मनोगुप्तिकी संभवता— धर्म है ज्ञाताद्रष्टा रहना अर्थात् रागद्वेष मोहके मलिन परिणाम न होने देना। इस ओर जिनकी उन्मुखता होती है उनका मन वश हो जाता है। यह बात उनके ही सम्भव है जो वस्तुस्वरूपके यथार्थ विज्ञानी हैं। वे ही मनोगुप्तिका पालन कर सकते हैं। मनोगुप्तिके सम्बन्धमें उत्कृष्ट बात तो यह है कि चिंतन सब रोक दें और अनुत्कृष्ट बात यह है कि अशुभ चिंतनको बिलकुल समाप्त कर दें।

गला फांस लिया। राजन् काम बतावो। अच्छा जब तक हम नहीं कहें तब तक तुम इस डंडीमें चढ़ो और उतरो। लो बारबारके चढ़ने और उतरनेमें वह परेशान हो गया। हाथ जोड़कर देव कहता है, राजन ! माफ करो, हम अपनी वह बात वापिस लेते हैं कि काम न बतावोगे तो हम तुम्हारी जान ले लेंगे। हम अपने वचन वापिस लेते हैं और तुम जब भी हमारी याद करोगे तब हम तुम्हारा काम आकर कर देंगे।

शिवस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें मन लगानेका परिणाम— यह मन बंदर से भी अधिक चंचल है, इसे तो ऐसा काम बतावो कि जिस काममें रह कर फिर यह अपना काम भी छोड़ दे। कौनसा काम ऐसा है कि जिस काममें रहकर यह मन अपना काम हठ छोड़ सकता है ? विषय और कषायोंके पुष्ट करने वाला यह काम ऐसा नहीं है कि इस काममें रहकर यह मन अपना काम छोड़ दे। खूब खोज करो— ऐसा कौनसा काम है कि जिस काममें रहकर यह अपना काम भी छोड़ दे ? वह काम है निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके दर्शन करनेमें इसके ध्यान और चिंतनमें मनको लगाना। इस ओर जरा मन तो लगे, बस, फिर वह अपना काम छोड़ देता है और तब आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है। भले ही हमारी गड़बड़ोंके कारण हमारी कायरता और कमजोरीके कारण फिरसे मन हम पर हावी हो जाय पर कार्य ऐसा है यह कि जिस कार्यमें रहने पर यह मन अपने कार्यको भी त्याग देता है।

आत्मचारित्रके अर्थ अपना कर्तव्य— भैया ! अपने मनको अशुभ-कार्योंसे हटाकर शुभ कार्योंमें लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान करके समग्र वस्तुओंके यथार्थ सहजस्वरूपके ज्ञातादृष्टा रह सकना, यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकारके राग और द्वेषसे दूर रहते हैं, ऐसे समग्र अशुभ परिणामरूपी आश्रवोंका परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूंकि बाह्य वस्तु है, आत्माके स्वभावकी बात नहीं है ऐसे उस मनको वशमें करनेकी बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छताको प्रकट करनेमें स्वच्छता बर्ते और अन्तरमें स्वच्छता जब जामित हो जाय तो वहां यह मन भी विलीन हो जाय। निश्चयचारित्र तो यह है। इस प्रकार तीन गुप्तियोंमें से यह उत्कृष्ट मनोगुप्तिका वर्णन अब समाप्त होनेको है।

मनोगुप्तिका अभेदभूत चिन्तन— यह गुप्ति नहीं साधुसंत जनोंके प्रकट होती है जिन्हें चिन्ता केवल परमागमके अर्थकी है। इसे चिंता नहीं

गला फांस लिया। राजन् काम बतावो। अच्छा जब तक हम नहीं कहें तब तक तुम इस डंडीमें चढ़ो और उतरो। लो बारबारके चढ़ने और उतरनेमें वह परेशान हो गया। हाथ जोड़कर देव कहता है, राजन! माफ करो, हम अपनी वह बात वापिस लेते हैं कि काम न बतावोगे तो हम तुम्हारी जान ले लेंगे। हम अपने वचन वापिस लेते हैं और तुम जब भी हमारी याद करोगे तब हम तुम्हारा काम आकर कर देंगे।

शिवस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें मन लगानेका परिणाम— यह मन बंदर से भी अधिक चंचल है, इसे तो ऐसा काम बतावो कि जिस काममें रह कर फिर यह अपना काम भी छोड़ दे। कौनसा काम ऐसा है कि जिस काममें रहकर यह मन अपना काम हठ छोड़ सकता है? विषय और कषायोंके पुष्ट करने वाला यह काम ऐसा नहीं है कि इस काममें रहकर यह मन अपना काम छोड़ दे। खूब खोज करो— ऐसा कौनसा काम है कि जिस काममें रहकर यह अपना काम भी छोड़ दे? वह काम है निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके दर्शन करनेमें इसके ध्यान और चिंतनमें मनको लगाना। इस ओर जरा मन तो लगे, बस, फिर वह अपना काम छोड़ देता है और तब आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है। भले ही हमारी गड़बड़ोंके कारण हमारी कायरता और कमजोरीके कारण फिरसे मन हम पर हावी हो जाय पर कार्य ऐसा है यह कि जिस कार्यमें रहने पर यह मन अपने कार्यको भी त्याग देता है।

आत्मचारित्रके अर्थ अपना कर्तव्य— भैया! अपने मनको अशुभ-कार्योंसे हटाकर शुभ कार्योंमें लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान करके समग्र वस्तुओंके यथार्थ सहजस्वरूपके ज्ञाताद्रष्टा रह सकना, यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकारके राग और द्वेषसे दूर रहते हैं, ऐसे समग्र अशुभ परिणामरूपी आश्रवोंका परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूंकि बाह्य वस्तु है, आत्माके स्वभावकी बात नहीं है ऐसे उस मनको वशमें करनेकी बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छताको प्रकट करनेमें स्वच्छता बर्ते और अन्तरमें स्वच्छता जब जागृत हो जाय तो वहां यह मन भी विलीन हो जाय। निश्चयचारित्र तो यह है। इस प्रकार तीन गुप्तियोंमें से यह उत्कृष्ट मनोगुप्तिका वर्णन अब समाप्त होनेको है।

मनोगुप्तिका श्रेयभूत चिन्तन— यह गुप्ति नहीं साधुसंत जनोंके प्रकट होती है जिन्हें चिन्ता केवल परमागमके अर्थकी है। इसे चिंता नहीं

विकथायें— ऐसे वचन मुख्यतया चार प्रकारके हैं—स्त्रीकथा राजकथा, चौरकथा, भोजनकथा। जिसके कामभाव बढ़ रहा है, ऐसा कामी पुरुष स्त्रीसम्बन्धी संयोगवियोग वाली नाना प्रकारकी रचना करता है, ऐसी स्त्रीकथाका कहना अथवा सुनना ये दोनों पापके कारण हैं। राजावोंकी चर्चा करना युद्धादिककी वार्ता करना ये सब राजकथा हैं। कल्याणार्थी पुरुषको राजकथा भी न करनी चाहिए। चौरसम्बन्धी कथाका नाम चौरकथा है। चोरीका उपाय बताना अथवा यहां वहां की सम्पूर्ण चोरीकी कलावोंका वर्णन करना यह सब चौरकथा है। जब भोजनसे प्रीति बढ़ जाती है तब यह भोजन पानकी प्रशंसा किया करता है, अमुक प्रकारसे अच्छा भोजन बनता है, भक्तकथालापी घी शक्कर आदिकी बनी हुई चीजोंकी प्रशंसा करता है। भोजनसम्बन्धी रागको व्यक्त व पुष्ट करने वाली बात कहना भोजनकथा कहलाती है।

साधुसंतोंके असत् कथावोंका अभाव— ये चारों प्रकारकी कथाएं साधु संतोंके नहीं होती हैं। इन कथावोंमें से प्रायः करके आजके त्यागी लोग स्त्रीकथा तो किया ही नहीं करते। यह तो बहुत ही भद्दी बात है, कुछ प्रयोग देशकथाका व राजकथाका हो जाता है और कुछ प्रयोग भोजन कथाका हो जाता है। जिनकी इन्द्रियोंमें इतनी आसक्ति है कि वे भोजन करनेके बाद भी भोजनकी कथा करते हैं—यह चीज ऐसी बनी है, यह ठीक नहीं बनी है, ऐसी भोजनकथा करने वाले लोग महा गये बीते कहे जाते हैं। इन कथावोंकी निवृत्ति हो तो वचनगुप्ति बन सकती है अथवा असत्य वचनोंका न कहना सो वचनगुप्ति है।

सकल वचनपरिहारकी भावना— सर्वोत्कृष्ट तो, किसी भी प्रकार के वचनोंका न कहना, वचनोंका पूर्ण संन्यास होना सो वचनगुप्ति है। जिस ज्ञानी पुरुषको ऐसा विश्वास है कि विश्व में कोई भी अन्य पदार्थ मेरा नहीं है या अन्य पदार्थविषयक परिणमन भी ऐसा नहीं है जो मेरे लिए हितकर हो और शांतिका कर सकने वाला हो, फिर किसकी चर्चा करूँ? लोकमें जो कुछ दिखता है वह जाननहार नहीं है और जो जानन-हार तत्त्व है वह दीखा नहीं करता। तो फिर मैं किससे वार्तालाप करूँ! जड़से बात करने में लाभ क्या? चैतन्यसे बात की नहीं जा सकती। इस कारण अब किससे बोलें, ऐसी भावनासे भरा हुआ ज्ञानी पुरुष वचनगुप्ति का पालन करता है।

आत्मप्रशंसा व परनिन्दाके वचनोंका परिहार— जो अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा करें उनकी दीनताका तो वर्णन ही क्या किया जाय? वे

विकथायें— ऐसे वचन मुख्यतया चार प्रकारके हैं—स्त्रीकथा राजकथा, चौरकथा, भोजनकथा। जिसके कामभाव बढ़ रहा है, ऐसा कामी पुरुष स्त्रीसम्बन्धी संयोगवियोग वाली नाना प्रकारकी रचना करता है, ऐसी स्त्रीकथाका कहना अथवा सुनना ये दोनों पापके कारण हैं। राजावोंकी चर्चा करना युद्धादिककी वार्ता करना ये सब राजकथा हैं। कल्याणार्थी पुरुषको राजकथा भी न करनी चाहिए। चौरसम्बन्धी कथाका नाम चौरकथा है। चोरीका उपाय बताना अथवा यहां वहां की सम्पूर्ण चोरीकी कलावोंका वर्णन करना यह सब चौरकथा है। जब भोजनसे प्रीति बढ़ जाती है तब यह भोजन पानकी प्रशंसा किया करता है, अमुक प्रकारसे अच्छा भोजन बनता है, भक्तकथालापी घी शक्कर आदिकी बनी हुई चीजोंकी प्रशंसा करता है। भोजनसम्बन्धी रागको व्यक्त व पुष्ट करने वाली बात कहना भोजनकथा कहलाती है।

साधुसंतोंके असत् कथावोंका अभाव— ये चारों प्रकारकी कथाएं साधु संतोंके नहीं होती हैं। इन कथावोंमें से प्रायः करके आजके त्यागी लोग स्त्रीकथा तो किया ही नहीं करते। यह तो बहुत ही भद्दी बात है, कुछ प्रयोग देशकथाका व राजकथाका हो जाता है और कुछ प्रयोग भोजन कथाका हो जाता है। जिनकी इन्द्रियोंमें इतनी आसक्ति है कि वे भोजन करनेके बाद भी भोजनकी कथा करते हैं—यह चीज ऐसी बनी है, यह ठीक नहीं बनी है, ऐसी भोजनकथा करने वाले लोग महा गये बीते कहे जाते हैं। इन कथावोंकी निवृत्ति हो तो वचनगुप्ति बन सकती है अथवा असत्य वचनोंका न कहना सो वचनगुप्ति है।

सकल वचनपरिहारकी भावना— सर्वोत्कृष्ट तो, किसी भी प्रकार के वचनोंका न कहना, वचनोंका पूर्ण संन्यास होना सो वचनगुप्ति है। जिस ज्ञानी पुरुषको ऐसा विश्वास है कि विश्व में कोई भी अन्य पदार्थ मेरा नहीं है या अन्य पदार्थविषयक परिणमन भी ऐसा नहीं है जो मेरे लिए हितकर हो और शांतिका कर सकने वाला हो, फिर किसकी चर्चा करूँ? लोकमें जो कुछ दिखता है वह जाननहार नहीं है और जो जानन-हार तत्त्व है वह दीखा नहीं करता। तो फिर मैं किससे वार्तालाप करूँ! जड़से बात करने में लाभ क्या? चैतन्यसे बात की नहीं जा सकती। इस कारण अब किससे बोलें, ऐसी भावनासे भरा हुआ ज्ञानी पुरुष वचनगुप्ति का पालन करता है।

आत्मप्रशंसा व परनिन्दाके वचनोंका परिहार— जो अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा करें उनकी दीनताका तो वर्णन ही क्या किया जाय? वे

आत्माके प्रदेशोंमें ही होता है। जैसे इन बाहरी पदार्थोंको जो आंखों दिखा करता है। उसके जाननेका उद्यम अंतरंगमें होता है और अंतरंगकारणसे होता है। यों ही प्रभुको भी जानना हो तो उसका प्रयत्न अंतरंगमें करना होगा, और अंतरंगकारणकी विधिसे करना होगा। वह विधि यही है कि सत्य श्रद्धान बनावो। मैं आत्मा अपने सत्यके कारण अपने आप सहज कैसा हूं उस स्वरूपका दर्शन करें, श्रद्धान करें। और बाह्यमें समस्त पदार्थ अहित हैं, जुदे हैं, हैं वे, उनका मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसा जानकर सर्व प्रकारकी चिंतनाएं, कल्पनाएं छोड़ दी जायें, एक परमविश्राम पायें तो अपने आपमें प्रभुके ज्ञानानन्दके अनुभवकी पद्धतिसे दर्शन दे देगा और तब इसे यह सुविदित हो जायेगा कि मेरा शरण, मेरा प्रभु, मेरा सर्वस्व यह मैं सहज ही हूं। यही स्वभाव जिसका दृष्ट हो चुका है उसे रागद्वेषका मल रंच भी नहीं रहा है, ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र भगवान्‌का श्रद्धान हो तो प्रभुके दर्शन होते हैं।

हार्दिक अनुरागकी प्रेरणा— एक अखबारमें कथा लिखी कि एक पुरोहित एकादशीको भोग चढ़ाया करता था। उसके बहुत सी गाय भसे थीं। उसके पास एक छोटी उमरका बरेदी लड़का था। जब वह पुरोहित भोग चढ़ाने न जा सके तो उस बच्चे से कह दे कि आज भगवान्‌का भोग तुम लगा देना। एक बार उस बच्चेसे कहा, बेटा! तुम गाय चराने जावो और वहां तुम भगवान्‌को आज भोग लगाना। लो यह पाव भर आटा। लड़का बोला कि पाव भर आटेसे क्या होगा, भगवान् भी खायेंगे, हम भी खायेंगे। कमसे कम दो के लायक तो दे दो। पुरुहित बोला कि यों ही भगवान्‌का नाम लेकर कह देना और फिर स्वयं सब खा लेना। तो पाव भर आटा लेकर वह चला। पहिले से ही सोच लिया कि पाव भर आटे के दो टिक्कड़ बनायेंगे, एक भगवान्‌को खिलायेंगे और एक स्वयं खायेंगे। सो उसने वहां जाकर दो टिक्कड़ बनाये और कहा आवो भगवन्! भोग लगावो। कोई न आया तो वह अड़कर बैठ गया और कहने लगा, अरे भगवन् तुम बड़े निर्दयी हो, आते क्यों नहीं, जब तक तुम नहीं आवोगे तब तक मैं न खाऊंगा। तो होते हैं ऐसे ही कोई व्यंतरदेव जिनको कि कौतूहल अप्रिय होता है; जैसे कि लोकमें प्रसिद्ध है। भगवान् जैसा रूप बनाकर आ गया खूब सजधज कर। तब वह लड़का बोला कि मेरे पास दो ही टिक्कड़ हैं, हम भूखे तो रह नहीं सकते। इसमें एक आपके हिस्से का है और एक हमारे हिस्सेका है। वह मायामयी रूप था, खा लिया। बादमें वह लड़का कहता है कि अबकी दफे तो तुमने बहुत हैरान किया

आत्माके प्रदेशोंमें ही होता है। जैसे इन बाहरी पदार्थोंको जो आंखों दिखा करता है। उसके जाननेका उद्यम अंतरंगमें होता है और अंतरंगकारणसे होता है। यों ही प्रभुको भी जानना हो तो उसका प्रयत्न अंतरंगमें करना होगा, और अंतरंगकारणकी विधिसे करना होगा। वह विधि यही है कि सत्य श्रद्धान बनावो। मैं आत्मा अपने सत्यके कारण अपने आप सहज कैसा हूं उस स्वरूपका दर्शन करें, श्रद्धान करें। और बाह्यमें समस्त पदार्थ अहित हैं, जुदे हैं, हैं वे, उनका मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसा जानकर सर्व प्रकारकी चिंतनाएं, कल्पनाएं छोड़ दी जायें, एक परमविश्राम पायें तो अपने आपमें प्रभुके ज्ञानानन्दके अनुभवकी पद्धतिसे दर्शन दे देगा और तब इसे यह सुविदित हो जायेगा कि मेरा शरण, मेरा प्रभु, मेरा सर्वस्व यह मैं सहज ही हूं। यही स्वभाव जिसका दृष्ट हो चुका है उसे रागद्वेपका मल रंच भी नहीं रहा है, ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र भगवान्‌का श्रद्धान हो तो प्रभुके दर्शन होते हैं।

हार्दिक अनुरागकी प्रेरणा— एक अखबारमें कथा लिखी कि एक पुरोहित एकादशीको भोग चढ़ाया करता था। उसके बहुत सी गाय भसे थीं। उसके पास एक छोटी उमरका बरेदी लड़का था। जब वह पुरोहित भोग चढ़ाने न जा सके तो उस बच्चे से कह दे कि आज भगवान्‌का भोग तुम लगा देना। एक बार उस बच्चेसे कहा, बेटा! तुम गाय चराने जावो और वहां तुम भगवान्‌को आज भोग लगाना। लो यह पाव भर आटा। लड़का बोला कि पाव भर आटेसे क्या होगा, भगवान् भी खायेंगे, हम भी खायेंगे। कमसे कम दो के लायक तो दे दो। पुरुहित बोला कि यों ही भगवान्‌का नाम लेकर कह देना और फिर स्वयं सब खा लेना। तो पाव भर आटा लेकर वह चला। पहिले से ही सोच लिया कि पाव भर आटे के दो टिक्कड़ बनायेंगे, एक भगवान्‌को खिलायेंगे और एक स्वयं खायेंगे। सो उसने वहां जाकर दो टिक्कड़ बनाये और कहा आवो भगवन्! भोग लगावो। कोई न आया तो वह अड़कर बैठ गया और कहने लगा, अरे भगवन् तुम बड़े निर्दयी हो, आते क्यों नहीं, जब तक तुम नहीं आवोगे तब तक मैं न खाऊंगा। तो होते हैं ऐसे ही कोई व्यंतरदेव जिनको कि कौतूहल अप्रिय होता है, जैसे कि लोकमें प्रसिद्ध है। भगवान् जैसा रूप बनाकर आ गया खूब सजधज कर। तब वह लड़का बोला कि मेरे पास दो ही टिक्कड़ हैं, हम भूखे तो रह नहीं सकते। इसमें एक आपके हिस्से का है और एक हमारे हिस्सेका है। वह मायामयी रूप था, खा लिया। बादमें वह लड़का कहता है कि अबकी दफे तो तुमने बहुत हैरान किया

वह बोले चीं। वह तो नहीं बोलता चीं। ऐसो जबरदस्ती का मौन रहना अन्तरमें कुछ लाभ नहीं देता है। लाभ तो वह मौन देता है जो तत्त्वज्ञान-पूर्वक है।

निश्चय व व्यवहारवचनगुप्ति— किसी भी प्रकारके वचनालापसे अन्तरमें कुछ राग उठा करता है, ऐसी स्थितिमें कुछ जान बूझकर सहज प्रयोजनके लिए जो वचनपरिहार किया जाता है वह है व्यवहारगुप्ति। और अज्ञानपूर्वक जबरदस्ती वचनोंका बंद करना, होंठमें होंठ चिपकाकर मौन रह जाना, ये तो सब उसकी उपचार चेष्टाएँ हैं, किन्तु सहजस्वभावसे ही जो वचनालापका परिहार हो जाता है यह है निश्चयवचनगुप्ति। इस आत्माका स्वभाव वचन बोलनेका नहीं है। यह तो आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र अमूर्ततत्त्व है। यहां कहां भाषा पड़ी है यहां कहां वचनालाप पड़े हैं? यह वचनोंसे अत्यन्त दूर है, ऐसे निरपेक्ष आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखनेमें जो सहज वचनालाप बंद हो जाता है उसका नाम है निश्चय-वचनगुप्ति। ज्ञानी पुरुष बाह्य वचनोंका सर्वथा अंतरंगसे परित्याग करता है।

अन्तर्वहिर्जल्पनिवृत्त साधुवोंकी साधना— अंतरंगमें अन्तर्जल्पका परित्याग होना बहुत बड़ी निर्मलताका काम है। कोई बात अतरंगमें भी न उठे, कोई वचन रचना अंतरंगमें भी न आये, ऐसी साधना बहुत तत्त्व-ज्ञानकी दृढ़ अभ्यास भावनासे होती है। इन गुप्तियोंका परिहार करके यह योगी अपने आपमें परमविश्राम लेता है। यह ही परमात्माको प्रकट करने वाला परमार्थ योग है। निकट भव्यपुरुष भव भयको उत्पन्न करने वाली वाणीका परित्याग करता है और शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्व का ध्यान करता है। इस प्रक्रियासे उनका कर्म पाप तिमिर दूर होता है और अनन्त आनन्दके निधान परमविकासरूप प्रकाश प्रकट हो जाता है। ऐसे साधुसंत जो दोनों प्रकारके वचनालापोंसे निवृत्त होकर अपने अंतरमें अंतस्तत्त्वकी भावनामें ही निरत रहते हैं, वे बड़े अतिशय प्रभाव को प्रकट करते हैं। शुद्ध होना, संकटोंसे मुक्त होना इससे बढ़कर और इस जीवका अतिशय ही क्या है? ऐसे महान् अतिशयकी प्राप्ति इस वचनगुप्तिसे प्रकट होती है। इस वचनगुप्तिके कुछ-कुछ निकट पहुंचे, यों मौनसाधनासे आत्मतत्त्वका एक परमविकास प्रकट होता है। यह ही कल्याणका मार्ग है।

बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणिवित्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति ॥६८॥

वह बोले चीं। वह तो नहीं बोलता चीं। ऐसो जबरदस्ती का मौन रहना अन्तरमें कुछ लाभ नहीं देता है। लाभ तो वह मौन देता है जो तत्त्वज्ञान-पूर्वक है।

निश्चय व व्यवहारवचनगुप्ति— किसी भी प्रकारके वचनालापसे अन्तरमें कुछ राग उठा करता है, ऐसी स्थितिमें कुछ जान बूझकर सहज प्रयोजनके लिए जो वचनपरिहार किया जाता है वह है व्यवहारगुप्ति। और अज्ञानपूर्वक जबरदस्ती वचनोंका बंद करना, होंठमें होंठ चिपकाकर मौन रह जाना, ये तो सब उसकी उपचार चेष्टाएँ हैं; किन्तु सहजस्वभावसे ही जो वचनालापका परिहार हो जाता है यह है निश्चयवचनगुप्ति। इस आत्माका स्वभाव वचन बोलनेका नहीं है। यह तो आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र अमूर्ततत्त्व है। यहां कहां भाषा पड़ी है यहां कहां वचनालाप पड़े हैं? यह वचनोंसे अत्यन्त दूर है, ऐसे निरपेक्ष आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखनेमें जो सहज वचनालाप बंद हो जाता है उसका नाम है निश्चय-वचनगुप्ति। ज्ञानी पुरुष बाह्य वचनोंका सर्वथा अंतरंगसे परित्याग करता है।

अन्तर्बहिर्जल्पनिवृत्त साधुवोंकी साधना— अंतरंगमें अन्तर्जल्पका परित्याग होना बहुत बड़ी निर्मलताका काम है। कोई बात अतरंगमें भी न उठे, कोई वचन रचना अंतरंगमें भी न आये, ऐसी साधना बहुत तत्त्व-ज्ञानकी दृढ़ अभ्यास भावनासे होती है। इन गुप्तियोंका परिहार करके यह योगी अपने आपमें परमविश्राम लेता है। यह ही परमात्माको प्रकट करने वाला परमार्थ योग है। निकट भव्यपुरुष भव भयको उत्पन्न करने वाली वाणीका परित्याग करता है और शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप अंतरतत्त्व का ध्यान करता है। इस प्रक्रियासे उनका कर्म पाप तिमिर दूर होता है और अनन्त आनन्दके निधान परमविकासरूप प्रकाश प्रकट हो जाता है। ऐसे साधुसंत जो दोनों प्रकारके वचनालापोंसे निवृत्त होकर अपने अंतरमें अंतस्तत्त्वकी भावनामें ही निरत रहते हैं, वे बड़े अतिशय प्रभाव को प्रकट करते हैं। शुद्ध होना, संकटोंसे मुक्त होना इससे बढ़कर और इस जीवका अतिशय हो क्या है? ऐसे महान् अतिशयकी प्राप्ति इस वचनगुप्तिसे प्रकट होती है। इस वचनगुप्तिके कुछ-कुछ निकट पहुंचे, यों मौनसाधनासे आत्मतत्त्वका एक परमविकास प्रकट होता है। यह ही कल्याणका मार्ग है।

बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणिवित्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति ॥६८॥

जाना है। बैलोंकी नाक, ऊंटोंकी नाक किसान लोग छेदते हैं तो वे रागवश छेदते हैं उन्हें अपने स्वार्थसे राग है। चाहे रागसे छेदे, चाहे द्वेषसे छेदे, वह तो आश्रव है, कामभोग है। छेदनेका अंतरंग कारण उस जीवके कर्मों का उदय है और बहिरङ्ग कारण उस प्रमादी की कायक्रिया है। कोई सोचे कि अरे इतना तो श्रम कर रहा है और उसे प्रमादी कहा जा रहा है। ठीक है, वह मोक्षमार्गका प्रमादी है। मोक्षमार्गकी ओर उसकी दृष्टि तक भी नहीं है।

मरणके प्रसाधन और एक जिज्ञासा— इसी प्रकार किसी जीवको मारने में जो कायविकार होता है वह भी काययोग है, मारनेका भी अंतरंग कारण तो उस मरनेवाले जीवकी आयुका क्षय है और बहिरङ्ग कारण किसी भी दूसरे जीवके कायका विकार है। कुछ ऐसा लग सकता है कि किसीका जीवन बना देना तो अपने हाथकी बात नहीं है, पर मारना तो अपने हाथकी बात है। कोई जीवको पैदा करदे यह तो वशकी बात नहीं है पर मारने में तो वश है ना। फिर मारने में भी मुख्यता तुम दे रहे हो। मरने वालेकी आयुके क्षयको। उसकी आयुका विनाश हो तो मरण होता है। समयसार जी में खूब लिखा भी है कि आयुकर्मके उदयके बिना जीवन नहीं होता, आयुकर्मके क्षयके बिना मरण नहीं होता। जब तत्त्वपर दृष्टि दें तो ये दोनों ही बातें सही लगती हैं अन्यथा हम यह कह सकते हैं कि जिन्दा कर देना सो हमारे हाथकी बात है। माचिसकी सींक ली और खींचकर जला दिया तो देखो हमने आग पैदा करदी कि नहीं? हमारे हाथकी बात है ना कि हम तुरन्त जीव पैदा करदें।

परके द्वारा परके जीवन मरणका अभाव— भैया! न तो जीवन अपने वशकी बात है, न दूसरे जीवका मरण अपने वशकी बात है। ऐसा मात्र निमित्तनैमित्तिक योग है कि दूसरे जीवके कायका व्यापार पावें और उसका निमित्त पाकर हमारी आयुकी उदीरणा हो जाय, बीचमें ही अपघात हो जाय। मर गया, पर मरण नाम तब कहलाया जब उसकी आयु पूर्ण खिर जाय, वह चाहे किसीका निमित्त पाकर खिरे। इस जीवका यदि कुछ मार देना वशकी बात हो तो देव, नारकी, तद्भवमोक्षगामी और असंख्यात वर्ष आयुवालोंको क्यों न कोई मार दे? हां, अपवर्त्यायुष्कोंमें यद्यपि ऐसा ही योग है फिर भी उसका नाम दूसरेके व्यापारका नाम नहीं है, किन्तु आयुके क्षयका नाम है। यों ही जीवन भी किसीके हाथकी बात नहीं है। माचिसकी सींक खींच कर लगा दिया कि आग पैदा हो जाती है, उसमें एक तो यह बात है कि तैजस काय जीवोंसे भरा हुआ यह लोक है और वे सूक्ष्म

जाता है। बैलोंकी नाक, ऊंटोंकी नाक किसान लोग छेदते हैं तो वे रागवश छेदते हैं उन्हें अपने स्वार्थसे राग है। चाहे रागसे छेदे, चाहे द्वेषसे छेदे, वह तो आश्रव है, कामभोग है। छेदनेका अंतरंग कारण उस जीवके कर्मों का उदय है और बहिरङ्ग कारण उस प्रमादी की कायक्रिया है। कोई सोचे कि अरे इतना तो श्रम कर रहा है और उसे प्रमादी कहा जा रहा है। ठीक है, वह मोक्षमार्गका प्रमादी है। मोक्षमार्गकी ओर उसकी दृष्टि तक भी नहीं है।

मरणके प्रसाधन और एक जिज्ञासा— इसी प्रकार किसी जीवको मारने में जो कायविकार होता है वह भी काययोग है, मारनेका भी अंतरंग कारण तो उस मरनेवाले जीवकी आयुका क्षय है और बहिरङ्ग कारण किसी भी दूसरे जीवके कायका विकार है। कुछ ऐसा लग सकता है कि किसीका जीवन बना देना तो अपने हाथकी बात नहीं है, पर मारना तो अपने हाथकी बात है। कोई जीवको पैदा करदे यह तो वशकी बात नहीं है पर मारने में तो वश है ना। फिर मारने में भी मुख्यता तुम दे रहे हो। मरने वालेकी आयुके क्षयको। उसकी आयुका विनाश हो तो मरण होता है। समयसार जी में खूब लिखा भी है कि आयुकर्मके उदयके बिना जीवन नहीं होता, आयुकर्मके क्षयके बिना मरण नहीं होता। जब तत्त्वपर दृष्टि दें तो ये दोनों ही बातें सही लगती हैं अन्यथा हम यह कह सकते हैं कि जिन्दा कर देना भी हमारे हाथकी बात है। माचिसकी सींक ली और खींचकर जला दिया तो देखो हमने आग पैदा करदी कि नहीं? हमारे हाथकी बात है ना कि हम तुरन्त जीव पैदा करदें।

परके द्वारा परके जीवन मरणका अभाव— भैया! न तो जीवन अपने वशकी बात है, न दूसरे जीवका मरण अपने वशकी बात है। ऐसा मात्र निमित्तनैमित्तिक योग है कि दूसरे जीवके कायका व्यापार पावें और उसका निमित्त पाकर हमारी आयुकी उदीरणा हो जाय, बीचमें ही अपघात हो जाय। मर गया, पर मरण नाम तब कहलाया जब उसकी आयु पूर्ण खिर जाय, वह चाहे किसीका निमित्त पाकर खिरे। इस जीवका यदि कुछ मार देना वशकी बात हो तो देव, नारकी, तद्भवमोक्षगामी और असंख्यात वर्ष आयुवालोंको क्यों न कोई मार दे? हां, अपवर्त्यायुष्कोंमें यद्यपि ऐसा ही योग है फिर भी उसका नाम दूसरेके व्यापारका नाम नहीं है, किन्तु आयुके क्षयका नाम है। यों ही जीवन भी किसीके हाथकी बात नहीं है। माचिसकी सींक खींचकर लगा दिया कि आग पैदा हो जाती है, उसमें एक तो यह बात है कि तैजस काय जीवोंसे भरा हुआ यह लोक है और वे सूक्ष्म

गुरुकी पूजामें आप पढ़ते हैं मृतकासन, वज्रासन आदि। मैं मृतकासनसे ध्यान कर रहा था। इतनेमें एक मंत्र सिद्ध करने वाला कोई पुरुष आया उसको जरूरत होगी मरे पुरुषकी खोपड़ी पर खिचड़ी पकाकर खानेकी। कोई तंत्र होता होगा। तो उसने मेरे सिर पर मरी खोपड़ी जानकर खिचड़ी पकानी शुरू करदी। उसे मैं बहुत देर तक सहन करता रहा, पर थोड़ी देर बाद मेरा शरीर हिल गया था। तो मेरे कायगुप्ति नहीं है। इस लिए मैं पड़गाहनेसे नहीं आया। उसने तो त्रिगुप्तिधारी महाराज कहकर बुलाया था।

साधुकी प्रगतिशील साधना— चेलनाने त्रिगुप्तिधारक यों कहा कि जिसके तीनोगुप्ति हैं उसको अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान जैसी ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं। यदि ऋद्धिसम्पन्न कोई मुनि आवेगा तो वह मुनि यह सोचेगा कि त्रिगुप्तिधारी विशेषण लगाकर इसने क्यों पड़गाहा? वह जान जायेगा कि इसमें कोई न कोई बात है। साधु संत तो सच्चे होते हैं, वहां यह बात नहीं होनी है कि मान न मान मैं तेरा महिमान। तो आप समझ लीजिए कि अपने आपके शरीर की वेदना भी न सह सकनेसे तो काय-गुप्तिसे च्युत कहा गया है, फिर हम आप लोग कितना पिछड़े हुए हैं अथवा वे साधु संतजन जो बड़े-बड़े हाथ पैर चलायें, कुछ काम बनायें, काम करें, आरम्भ करें, महल बनवायें, धराई उठाई करें कितने वे च्युत हो गये? यही समझिये कि वे पतित हो जाते हैं। अरे न बने अपना शरीर संभालनेकी बात तो कमसे कम गृहस्थजनोंके करने योग्य आरम्भके कार्यों में प्रवृत्त तो न रहें। गृहस्थों जैसे आरंभ परिग्रहोंमें प्रवृत्त होनेमें तो प्रमत्तविरतपना भी नहीं रहता, यों संतजन कायके विकारको छोड़कर शुद्ध आत्मतत्त्वकी बारबार भावना करते हैं।

कायगुप्तिकी सूक्ष्म और पूर्ण साधना— अरे जब मेरा निष्क्रिय स्वरूप है तो अट्टसट्ट कायव्यापार करनेकी क्या आवश्यकता है? मेरेमें तो जरा भी योग हो तो वह मेरे स्वभावसे परेकी बात है। फिर जान बूझ-कर रागद्वेष करके मोह बढ़ा कर किसी प्रकारके विकल्पोंमें फंसकर व्यापार बनाऊँ यह तो अत्यन्त अनुचित बात है। दूसरे पुरुषके प्रति कायकी चेष्टा हो या अपने आपमें भी संकोचन प्रसारण हो, ये सब कायगुप्ति नहीं है। कोई ऋद्धियोंका प्रयोग करे, वैक्रियक ऋद्धिका प्रयोग क्या है हाथ पैर आदि फैलाना अथवा अन्य कोई इस अवस्थामें समुद्घात प्रसारण हुआ ये सब कायगुप्तिसे अलग चीजें हैं। भला बतलाओ कि जहां शरीरको भी वशमें किये हैं और फिर भी कारणवश समुद्घात बन गया, वेदना

गुरुकी पूजामें आप पढ़ते हैं मृतकासन, वज्रासन आदि। मैं मृतकासनसे ध्यान कर रहा था। इतनेमें एक मंत्र सिद्ध करने वाला कोई पुरुष आया उसको जरूरत होगी मरे पुरुषकी खोपड़ी पर खिचड़ी पकाकर खानेकी। कोई तंत्र होता होगा। तो उसने मेरे सिर पर मरी खोपड़ी जानकर खिचड़ी पकानी शुरू करदी। उसे मैं बहुत देर तक सहन करता रहा, पर थोड़ी देर बाद मेरा शरीर हिल गया था। तो मेरे कायगुप्ति नहीं है। इस लिए मैं पड़गाहनेसे नहीं आया। उसने तो त्रिगुप्तिधारी महाराज कहकर बुलाया था।

साधुकी प्रगतिशील साधना— चेलनाने त्रिगुप्तिधारक यों कहा कि जिसके तीनोगुप्ति हैं उसको अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान जैसी ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं। यदि ऋद्धिसम्पन्न कोई मुनि आवेगा तो वह मुनि यह सोचेगा कि त्रिगुप्तिधारी विशेषण लगाकर इसने क्यों पड़गाहा? वह जान जायेगा कि इसमें कोई न कोई बात है। साधु संत तो सच्चे होते हैं, वहां यह बात नहीं होनी है कि मान न मान मैं तेरा महिमान। तो आप समझ लीजिए कि अपने आपके शरीर की वेदना भी न सह सकनेसे तो काय-गुप्तिसे च्युत कहा गया है, फिर हम आप लोग कितना पिछड़े हुए हैं अथवा वे साधु संतजन जो बड़े-बड़े हाथ पैर चलायें, कुछ काम बनायें, काम करें, आरम्भ करें, महल बनवायें, धराई उठाई करें कितने वे च्युत हो गये? यही समझिये कि वे पतित हो जाते हैं। अरे न बने अपना शरीर संभालनेकी बात तो कमसे कम गृहस्थजनोंके करने योग्य आरम्भके कार्यों में प्रवृत्त तो न रहें। गृहस्थों जैसे आरंभ परिग्रहोंमें प्रवृत्त होनेमें तो प्रमत्तविरतपना भी नहीं रहता, यों संतजन कायके विकारको छोड़कर शुद्ध आत्मतत्त्वकी बारबार भावना करते हैं।

कायगुप्तिकी सूक्ष्म और पूर्ण साधना— अरे जब मेरा निष्क्रिय स्वरूप है तो अट्टसट्ट कायव्यापार करनेकी क्या आवश्यकता है? मेरेमें तो जरा भी योग हो तो वह मेरे स्वभावसे परेकी बात है। फिर जान बूझ-कर रागद्वेष करके मोह बढ़ा कर किसी प्रकारके विकल्पोंमें फंसकर व्यापार बनाऊँ यह तो अत्यन्त अनुचित बात है। दूसरे पुरुषके प्रति कायकी चेष्टा हो या अपने आपमें भी संकोचन प्रसारण हो, ये सब कायगुप्ति नहीं है। कोई ऋद्धियोंका प्रयोग करे, वैक्रियक ऋद्धिका प्रयोग क्या है हाथ पैर आदि फैलाना अथवा अन्य कोई इस अवस्थामें समुद्घात प्रसारण हुआ ये सब कायगुप्तिसे अलग चीजें हैं। भला बतलाओ कि जहां शरीरको भी वशमें किये हैं और फिर भी कारणवश समुद्घात बन गया, वेदना

सत्संग होना यह बड़े सौभाग्यकी बात है। जहां उपासक बारबार यह ध्यान कर सकें, जिसकी मुद्राको देखकर जिनकी अंतरङ्ग चेष्टाका विचार करे कि अहो इनका उपयोग देखो, कैसा निरन्तर एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी ओर बना रहता है? अहो इसी लिए ये प्रसन्न हैं, इसी लिए ये सदा सुखी रहते हैं। मैं मोही पुरुष कहां इस संसारमें डोल रहा हूं। मुद्रामात्रको देखकर उदय सुन्दरका बहनोई वज्रभानु जैसा महामोही क्षणमात्रमें ही मोहरहित हो गया। आप बतलावो कि साधुके संग और दर्शनसे कितना भला होता है? वह कितना मोही था लेकिन उस साधुकी मुद्राके दर्शनकर इतना बड़ा प्रताप हुआ कि उसका भला हो गया। ये साधु संत निरन्तर अपने शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानमें रहा करते हैं। जो ऐसे साधुजन हैं उनके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सम्यक् विधिसे चलते रहते हैं, उनका ही जन्म सफल है।

निश्चयके सद्भावसे व्यवहारके प्रतापका सम्बन्ध— इन गुप्तियोंके प्रकरणमें यहां तक व्यवहारनयसे मनोगुप्ति क्या है, वचनगुप्ति क्या है और कायगुप्ति क्या है—इसका वर्णन किया गया है। अब यह बताया जाएगा कि निश्चयनयसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति क्या है? इसमें मनोगुप्ति और वचनगुप्तिके वर्णनमें एक गाथा आएगी और कायगुप्तिके वर्णनमें स्वतन्त्र एक गाथा आएगी। उससे यह विदित होगा कि ओह, निश्चयकी मनोगुप्ति बिना, निश्चयकी वचनगुप्ति बिना, निश्चयकी कायगुप्ति बिना यह गुप्ति भी श्रमरूप रहती है, पर उतनी लाभप्रद वह नहीं हो सकती, जितनी निश्चयगुप्तिके साथ रहकर लाभकर होती है। अब उन्हीं गुप्तियोंका वर्णन चलेगा।

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तन्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ति वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥६६॥

मनोगुप्ति— मनसे रागादिक दूर हो जाना, इसका नाम है मनोगुप्ति। यद्यपि रागादिक आत्मासे दूर होते हैं, लेकिन मनोगुप्तिके प्रकरणमें इस भावमन को जो कि आत्माका एक परिणमन है, उससे रागादिकका हटाना बताया गया है। इससे यह तत्त्व भी निकलता है कि आत्मा तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है; उसमें राग है कहां जो हटाया जाए। आत्माके परिणमनमें राग है, पर्यायमें राग है, स्वभावमें राग नहीं है, इसलिये पर्यायभूत भावमनसे रागादिकको हटा देनेको मनोगुप्ति कहते हैं। यहां निश्चय मनोगुप्तिका लक्षण कहा जा रहा है। समस्त मोह रागद्वेषोंका अभाव होनेसे जो अखण्ड अद्वैत परमचित्स्वरूपमें स्थिरताके साथ स्थिति

सत्संग होना यह बड़े सौभाग्यकी बात है। जहां उपासक बारबार यह ध्यान रख सके, जिसकी मुद्राको देखकर जिनकी अंतरंग चेष्टाका विचार करे कि अहो इनका उपयोग देखो, कैसा निरन्तर एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी ओर बना रहता है? अहो इसी लिए ये प्रसन्न हैं, इसी लिए ये सदा सुखी रहते हैं। मैं मोही पुरुष कहां इस संसारमें डोल रहा हूं। मुद्रामात्रको देखकर उदय सुन्दरका बहनोई वज्रभानु जैसा महामोही क्षणमात्रमें ही मोहरहित हो गया। आप बतलावो कि साधुके संग और दर्शनसे कितना भला होता है? वह कितना मोही था लेकिन उस साधुकी मुद्राके दर्शनकर इतना बड़ा प्रताप हुआ कि उसका भला हो गया। ये साधु संत निरन्तर अपने शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानमें रहा करते हैं। जो ऐसे साधुजन हैं उनके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सम्यक् विधिसे चलते रहते हैं, उनका ही जन्म सफल है।

निश्चयके सद्भावसे व्यवहारके प्रतापका सम्बन्ध— इन गुप्तियोंके प्रकरणमें यहां तक व्यवहारनयसे मनोगुप्ति क्या है, वचनगुप्ति क्या है और कायगुप्ति क्या है—इसका वर्णन किया गया है। अब यह बताया जाएगा कि निश्चयनयसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति क्या है? इसमें मनोगुप्ति और वचनगुप्तिके वर्णनमें एक गाथा आएगी और कायगुप्तिके वर्णनमें स्वतन्त्र एक गाथा आएगी। उससे यह विदित होगा कि ओह, निश्चयकी मनोगुप्ति बिना, निश्चयकी वचनगुप्ति बिना, निश्चयकी कायगुप्ति बिना यह गुप्ति भी श्रमरूप रहती है, पर उतनी लाभप्रद वह नहीं हो सकती, जितनी निश्चयगुप्तिके साथ रहकर लाभकर होती है। अब उन्हीं गुप्तियोंका वर्णन चलेगा।

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तन्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥६६॥

मनोगुप्ति— मनसे रागादिक दूर हो जाना, इसका नाम है मनोगुप्ति। यद्यपि रागादिक आत्मासे दूर होते हैं, लेकिन मनोगुप्तिके प्रकरणमें इस भावमन को जो कि आत्माका एक परिणमन है, उससे रागादिकका हटाना बताया गया है। इससे यह तत्त्व भी निकलता है कि आत्मा तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है; उसमें राग है कहां जो हटाया जाए। आत्माके परिणमनमें राग है, पर्यायमें राग है, स्वभावमें राग नहीं है, इसलिये पर्यायभूत भावमनसे रागादिकको हटा देनेको मनोगुप्ति कहते हैं। यहां निश्चय मनोगुप्तिका लक्षण कहा जा रहा है। समस्त मोह रागद्वेषोंका अभाव होनेसे जो अखण्ड अद्वैत परमचित्स्वरूपमें स्थिरताके साथ स्थिति

बादलकी छाल और अंधेरेके फूल। जैसे ये कुछ नहीं हैं ऐसे ही मनकी बात भी कहीं कुछ नहीं है। केवल ख्याल ही ख्याल है। पर यह तो इन्द्रिय से भी अधिक उद्दण्ड और हामी हो रहा है।

मनका वशीकरण— इस उद्दण्ड मनका वशमें करना उनके ही संभव है जो भेदविज्ञानके द्वारा अपने परमार्थ शरणभूत अन्तस्तत्त्वमें पहुंचे हैं। उनके आगे मन कुछ नहीं कर सकता है। बाकी संसारके समस्त जीवों को यह मन मानों स्वच्छन्द होकर बेरोकटोक सता रहा है। सर्व प्रकारके रागद्वेष मोह जहां नहीं रहे उसी आत्मामें वह सामर्थ्य प्रकट होती है कि निज अखण्ड अद्वैत चित् प्रकाशमात्र स्वरूपमें उपयोगी हो सकता है अपने इस शाश्वत स्वभावमें स्थिर होनेका नाम है निश्चयमनोगुप्ति। ऐसी स्थितिमें भावमनसे ये रागादिक भाव निकल जाते हैं और फिर यह मन वशमें हो जाता है। वश होनेका अर्थ यह है कि फिर हम इसे उत्तम कार्यमें लगा सकते हैं। उत्तमकार्यमें किसीको लगा देनेका नाम है वश करना।

कुपथसे निवृत्तिका नाम वशीकरण— जैसे कोई पुत्र कुपूत हो गया है, उद्दण्ड हो गया है अर्थात् गंदे कुपथके कामोंमें लग गया है। अब उसे कहते हैं कि यह वश नहीं रहा। अरे वश करनेका अर्थ बांधना नहीं है कि यह रस्सीसे बंध नहीं पाता। यह वश नहीं रहा अर्थात् कुपथमें भागा भागा फिर रहा है। जब कभी ज्ञान उपदेश शिक्षा देकर किसी उपायसे उसका आचरण ठीक हो जाय तो कहते हैं कि मेरा पुत्र मेरे वश हो गया है। अरे पुत्रादिक कोई भी तेरे वश न था, न है, न होगा, किन्तु कुपथसे हटकर सुपथमें लग गया है, इसीके मायने हैं वशमें हो गया है। यों ही यह मन कुपथमें भागा-भागा फिर रहा था, अब ज्ञानबलसे इस मनसे उन रागादिक भावोंको हटा दिया अब इसका कुपथ दूर हो गया। अब वह सुपथमें आने लगा। इसका नाम है मन वशमें हो गया। वह सुपथ क्या है? वह एकरूप है। निज सहजस्वभावके अवलोकनको ही सुपथ कहते हैं। अब यह मन, यह विचार, यह ज्ञानधारा सहज स्वरूपकी ओर उन्मुख होने लगी है, ऐसी स्थितिको कहते हैं निश्चयमनोगुप्ति।

कुपथगमनके प्रारम्भमें ही सावधानीकी आवश्यकता— भैया! प्रारम्भमें ही कुपथमें जाना बहुत बड़े अहितको लिए हुए है। कुपथको मान लेना एक रिपटने वाली जगहमें चलनेके बराबर है। जैसे बरषातमें चिकनी जमीन पर जहां कि पैर रिपट जाते हैं उस पर चलना बड़ी सावधानीका

बालकी छाल और अंधेरेके फूल। जैसे ये कुछ नहीं हैं ऐसे ही मनकी बात भी कहीं कुछ नहीं है। केवल ख्याल ही ख्याल है। पर यह तो इन्द्रिय से भी अधिक उद्दण्ड और हामी हो रहा है।

मनका वशीकरण— इस उद्दण्ड मनका वशमें करना उनके ही संभव है जो भेदविज्ञानके द्वारा अपने परमार्थ शरणभूत अन्तस्तत्त्वमें पहुंचे हैं। उनके आगे मन कुछ नहीं कर सकता है। बाकी संसारके समस्त जीवों को यह मन मानों स्वच्छन्द होकर बेरोकटोक सता रहा है। सर्व प्रकारके रागद्वेष मोह जहां नहीं रहे उसी आत्मामें वह सामर्थ्य प्रकट होती है कि निज अखण्ड अद्वैत चित् प्रकाशमात्र स्वरूपमें उपयोगी हो सकता है अपने इस शाश्वत स्वभावमें स्थिर होनेका नाम है निश्चयमनोगुप्ति। ऐसी स्थितिमें भावमनसे ये रागादिक भाव निकल जाते हैं और फिर यह मन वशमें हो जाता है। वश होनेका अर्थ यह है कि फिर हम इसे उत्तम कार्यमें लगा सकते हैं। उत्तमकार्यमें किसीको लगा देनेका नाम है वश करना।

कुपथसे निवृत्तिका नाम वशीकरण— जैसे कोई पुत्र कुपूत हो गया है, उद्दण्ड हो गया है अर्थात् गंदे कुपथके कामोंमें लग गया है। अब उसे कहते हैं कि यह वश नहीं रहा। अरे वश करनेका अर्थ बांधना नहीं है कि यह रस्सीसे बंध नहीं पाता। यह वश नहीं रहा अर्थात् कुपथमें भागा भागा फिर रहा है। जब कभी ज्ञान उपदेश शिक्षा देकर किसी उपायसे उसका आचरण ठीक हो जाय तो कहते हैं कि मेरा पुत्र मेरे वश हो गया है। अरे पुत्रादिक कोई भी तेरे वश न था, न है, न होगा, किन्तु कुपथसे हटकर सुपथमें लग गया है, इसीके मायने हैं वशमें हो गया है। यों ही यह मन कुपथमें भागा-भागा फिर रहा था, अब ज्ञानबलसे इस मनसे उन रागादिक भावोंको हटा दिया अब इसका कुपथ दूर हो गया। अब यह सुपथमें आने लगा। इसका नाम है मन वशमें हो गया। वह सुपथ क्या है? वह एकरूप है। निज सहजस्वभावके अवलोकनको ही सुपथ कहते हैं। अब यह मन, यह विचार, यह ज्ञानधारा सहज स्वरूपकी ओर उन्मुख होने लगी है, ऐसी स्थितिको कहते हैं निश्चयमनोगुप्ति।

कुपथगमनके प्रारम्भमें ही सावधानीकी आवश्यकता— भैया! प्रारम्भमें ही कुपथमें जाना बहुत बड़े अहितको लिए हुए है। कुपथको मान लेना एक रिपटने वाली जगहमें चलनेके बराबर है। जैसे बरषातमें चिकनी जमीन पर जहां कि पैर रिपट जाते हैं उस पर चलना बड़ी सावधानीका

मिलेगा, किन्तु बोलेंगे गलत बात कि इतना आवश्यक काम है। अरे आवश्यक काम कहते किसे हैं? पहिले आप इसहीका निर्णय करलो। आवश्यक शब्द ही यह बता देगा कि आवश्यक काम मेरा क्या है? आवश्यक शब्द में मूल वर्ण है वश। वशका नाम वश है। किसीके आधीन होनेका नाम वश है और न वशः इति अवशः। जो वशमें न हो उस पुरुषका नाम है अवश। जो इन्द्रियके विषयोंके आधीन न हो, जो किसी भी प्रकार परवस्तुवोंके आधीन न हो ऐसे स्वाधीन पुरुषका नाम है अवश। अवशस्य कर्म इति आवश्यकम्। जो अवश पुरुषका काम है उसका नाम है आवश्यक अर्थात् जिस परिणामसे, जिस ज्ञानसे यह आत्मा अपने आपके आधीन रहे, निज सहज ज्ञानप्रकाशके अनुभवनसे, पूर्ण प्रसन्न रहकर स्वतंत्र रहे उस परिणामके करनेका नाम है आवश्यक। अभी क्या कह रहे थे मुझे आज अत्यन्त आवश्यक काम है और काम किया अनावश्यक। ऐसे हैं वे काम जो पराधीन विषयकषाय हैं, जिनमे अनेक आपत्तियां हैं, अनेक कष्ट हैं।

वास्तविक आवश्यक— अपने आपमें यह श्रद्धा लावो कि मुझे यदि कोई आवश्यक काम है तो यह ही एक आवश्यक है कि अपने स्वरूप का अनुभवन करूँ और संसारके सारे संकट मेटूँ। किस पदार्थमें मोह ममता करके अपने को बरबाद किया जाय? यह घर न अभी काम दे रहा है न आगे काम देगा, यह तो छूट ही जायेगा। कहांके मरे कहां गये जिसका कुछ पता भी नहीं। दुनिया है ३४३ घन राजू प्रमाण। अच्छा घरका न सही तो समाजका तो हमें ख्याल करना ही चाहिए। यह समाज जो मायामय असमानजातीय पुरुषोंका समूह है यह भी न अब शरण है न आगे शरण है और पता नहीं यहांके मरे कहां गिरे? यहां कौन मदद देने आयेगा? अच्छा देशकी बात तो सोचना चाहिए। तुम्हारा देश कौन सा है? आज इस जगह उत्पन्न हुए हैं, यहां की कथा गा रहे हैं और दूसरे अन्य देशोंके लोगोंको गैर, विरोधी, न कुछ जैसा समझ रहे हैं। और कोई यहांसे मरण करके उन्हीं देशोंमें पैदा हो गया तब क्या सोचेगा? तब तो वह ही राष्ट्र अपने लिए सर्व कुछ हो जायेगा। अरे सोचो उसकी बात जिससे सदा काम पड़ता है। सदा काम पड़ेगा अपने आपके आत्मा से।

आत्माकी पवित्रतासे परोपकारकी संभवता— भैया! जो अपने आपके आत्माकी बात सोच सकता है और उस आत्मचिंतनसे अपनी स्वच्छता पवित्रता ला सकता है ऐसे पुरुषसे राष्ट्रका हित भी सहज स्वय-

मिलेगा, किन्तु बोलेंगे गलत बात कि इतना आवश्यक काम है। अरे आवश्यक काम कहते किसे हैं? पहिले आप इसहीका निर्णय करलो। आवश्यक शब्द ही यह बता देगा कि आवश्यक काम मेरा क्या है? आवश्यक शब्दमें मूल वर्ण है वश। वशका नाम वश है। किसीके आधीन होनेका नाम वश है और न वशः इति अवशः। जो वशमें न हो उस पुरुषका नाम है अवश। जो इन्द्रियके विषयोंके आधीन न हो, जो किसी भी प्रकार परवस्तुवोंके आधीन न हो ऐसे स्वाधीन पुरुषका नाम है अवश। अवशस्य कर्म इति आवश्यकम्। जो अवश पुरुषका काम है उसका नाम है आवश्यक अर्थात् जिस परिणामसे, जिस ज्ञानसे यह आत्मा अपने आपके आधीन रहे, निज सहज ज्ञानप्रकाशके अनुभवनसे, पूर्ण प्रसन्न रहकर स्वतंत्र रहे उस परिणामके करनेका नाम है आवश्यक। अभी क्या कह रहे थे मुझे आज अत्यन्त आवश्यक काम है और काम किया अनावश्यक। ऐसे हैं वे काम जो पराधीन विषयकषाय हैं, जिनमे अनेक आपत्तियां हैं, अनेक कष्ट हैं।

वास्तविक आवश्यक— अपने आपमें यह श्रद्धा लावो कि मुझे यदि कोई आवश्यक काम है तो यह ही एक आवश्यक है कि अपने स्वरूप का अनुभवन करूँ और संसारके सारे संकट मेटूँ। किस पदार्थमें मोह ममता करके अपने को बरबाद किया जाय? यह घर न अभी काम दे रहा है न आगे काम देगा, यह तो छूट ही जायेगा। कहांके मरे कहां गये जिसका कुछ पता भी नहीं। दुनिया है ३४३ घन राजू प्रमाण। अच्छा घरका न सही तो समाजका तो हमें ख्याल करना ही चाहिए। यह समाज जो मायामय असमानजातीय पुरुषोंका समूह है यह भी न अब शरण है न आगे शरण है और पता नहीं यहांके मरे कहां गिरे? यहां कौन मदद देने आयेगा? अच्छा देशकी बात तो सोचना चाहिए। तुम्हारा देश कौन सा है? आज इस जगह उत्पन्न हुए हैं, यहां की कथा गा रहे हैं और दूसरे अन्य देशोंके लोगोंको गैर, विरोधी, न कुछ जैसा समझ रहे हैं। और कोई यहांसे मरण करके उन्हीं देशोंमें पैदा हो गया तब क्या सोचेगा? तब तो वह ही राष्ट्र अपने लिए सर्व कुछ हो जायेगा। अरे सोचो उसकी बात जिससे सदा काम पड़ता है। सदा काम पड़ेगा अपने आपके आत्मा से।

आत्माकी पवित्रतासे परोपकारकी संभवता— भैया! जो अपने आपके आत्माकी बात सोच सकता है और उस आत्मचिंतनसे अपनी स्वच्छता पवित्रता ला सकता है ऐसे पुरुषसे राष्ट्रका हित भी सहज स्वय-

मौन है, आज तो यह चार बजे तक न बोलेंगे अथवा कोई साधुजन रोज मौन रहते हैं, आजन्म मौन रहते हैं तो लोगोंको विश्वास हो जाता है कि इनका परिणाम बड़ा उज्ज्वल है। दूसरी बात यह है कि जैसे मुनिको शुद्ध आशयमें रुचि है वहां ही जिसकी वृत्ति है ऐसा पुरुष उस शुद्ध वृत्तिके परिणाम में मौन रहा करता है, चुप रहा करता है। इस कारण मौन शब्दकी रूढ़ि वचनव्यवहार बंद करने में आ गयी। सीधा अर्थ तो यह है कि मुनिके परिणामको मौन कहते हैं। जो कुछ भी मुनि करे वह सब भी मौन है, जो कुछ भी मुनि विचारे वह सब भी मौन है।

किससे बोला जाय— इस ज्ञानी पुरुषके वचनव्यवहारकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है? बताते हैं। अच्छा आपही बतावो कि किससे वचन बोलें, व्यवहार करने योग्य दो जातिके पदार्थ हैं— जीव और पुद्गल। उनमें पुद्गल तो समझते नहीं हैं, अचेतन हैं। उनसे बोल कर क्या करना? वहांसे न कुछ उत्तर मिलता है, न उनमें कोई अभिप्राय है, न वे प्रसन्न होते हैं, न वे रुष्ट होते हैं। पुद्गल तो, ये स्कंध तो जैसे हैं, पड़े हुए हैं इनसे वचन बोलकर क्या करना, अचेतनोंसे कौन बोलता है वचन? अज्ञानीजन भले ही इन पुद्गलों से वचन बोल दें अथवा पुद्गलसे कुछ बोल दें तो बच्चे राजी हों तो हो जायें। किसी बच्चेके सिरमें भींत लग जाय, रोने लगे तो भींतमें दो चार थप्पड़ जमा दो तो बच्चा राजी हो जाता है। तो अज्ञानीजन पुद्गलोंसे बोलकर राजी हों तो हो जायें, पर बोलनेका वहां कुछ काम नहीं है। भींतसे बोलें? घड़ीसे बोलें? चौकीसे बोलें? किससे बोले? अब रहा दूसरी जातिका चेतन पदार्थ। वह अमूर्त द्रव्य है, उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं। वह भावात्मक है, उसमें शब्द भी नहीं आते। चेतनोंसे भी कौन बोलता है अथवा बोला भी नहीं जा सकता।

शुद्ध दृष्टिसे देखो तो यह आत्मा शब्द सुनता भी नहीं है। जैसे कि कार्यपरमात्मा शब्द सुनते नहीं हैं। केवली भगवान् जानते तो सब हैं, पर वे सुनते नहीं हैं, देखते नहीं हैं, सूँघते नहीं है, छूते नहीं है, स्वाद लेते नहीं हैं। अब अपनी कल्पनामें लावो कि बिना सुने, बिना देखे, बिना छुवे, बिना स्वादे, वह ज्ञान किस प्रकारका होता होगा? न भगवान सुनते हैं और न यह आत्मतत्त्व सुनता है। भगवानमें और आत्मतत्त्वमें अन्तर नहीं है। कार्यसमयसारमें और कारणसमयसारमें स्वरूपका अन्तर नहीं है। जैसे निर्मल जल और कीचड़में पड़े हुए जलका स्वभाव इन दोनोंका एक ही स्वरूप है और एक ही वर्णन मिलेगा। जरा गंदे जल और निर्मल

मौन है, आज तो यह चार बजे तक न बोलेंगे अथवा कोई साधुजन रोज मौन रहते हैं, आजन्म मौन रहते हैं तो लोगोंको विश्वास हो जाता है कि इनका परिणाम बड़ा उज्ज्वल है। दूसरी बात यह है कि जैसे मुनिको शुद्ध आशयमें रुचि है वहां ही .जिसकी वृत्ति है ऐसा पुरुष उस शुद्ध वृत्तिके परिणाम में मौन रहा करता है, चुप रहा करता है। इस कारण मौन शब्दकी रूढ़ि वचनव्यवहार बंद करने में आ गयी। सीधा अर्थ तो यह है कि मुनिके परिणामको मौन कहते हैं। जो कुछ भी मुनि करे वह सब भी मौन है, जो कुछ भी मुनि विचारे वह सब भी मौन है।

किससे बोला जाय— इस ज्ञानी पुरुषके वचनव्यवहारकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है? बताते हैं। अच्छा आपही बतावो कि किससे वचन बोलें, व्यवहार करने योग्य दो जातिके पदार्थ हैं— जीव और पुद्गल। उनमें पुद्गल तो समझते नहीं हैं, अचेतन हैं। उनसे बोल कर क्या करना? वहांसे न कुछ उत्तर मिलता है, न उनमें कोई अभिप्राय है, न वे प्रसन्न होते हैं, न वे रुष्ट होते हैं। पुद्गल तो, ये स्कंध तो जैसे हैं, पड़े हुए हैं इनसे वचन बोलकर क्या करना, अचेतनोंसे कौन बोलता है वचन? अज्ञानीजन भले ही इन पुद्गलों से वचन बोल दें अथवा पुद्गलसे कुछ बोल दें तो बच्चे राजी हों तो हो जायें। किसी बच्चेके सिरमें भींत लग जाय, रोने लगे तो भींतमें दो चार थप्पड़ जमा दो तो बच्चा राजी हो जाता है। तो अज्ञानीजन पुद्गलोंसे बोलकर राजी हों तो हो जायें, पर बोलनेका वहां कुछ काम नहीं है। भींतसे बोलें? घड़ीसे बोलें? चौकीसे बोलें? किससे बोले? अब रहा दूसरी जातिका चेतन पदार्थ। वह अमूर्त द्रव्य है, उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं। वह भावात्मक है, उसमें शब्द भी नहीं आते। चेतनोंसे भी कौन बोलता है अथवा बोला भी नहीं जा सकता।

शुद्ध दृष्टिसे देखो तो यह आत्मा शब्द सुनता भी नहीं है। जैसे कि कार्यपरमात्मा शब्द सुनते नहीं हैं। केवली भगवान् जानते तो सब हैं, पर वे सुनते नहीं हैं, देखते नहीं हैं, सूँघते नहीं है, छूते नहीं है, स्वाद लेते नहीं हैं। अब अपनी कल्पनामें लावो कि बिना सुने, बिना देखे, बिना छुवे, बिना स्वादे, वह ज्ञान किस प्रकारका होता होगा? न भगवान सुनते हैं और न यह आत्मतत्त्व सुनता है। भगवानमें और आत्मतत्त्वमें अन्तर नहीं है। कार्यसमयसारमें और कारणसमयसारमें स्वरूपका अन्तर नहीं है। जैसे निर्मल जल और कीचड़में पड़े हुए जलका स्वभाव इन दोनोंका एक ही स्वरूप है और एक ही वर्णन मिलेगा। जरा गंदे जल और निर्मल

विषयोंमें डोलता है। यह ही पर घर है, किन्तु हर जगहसे ललकारा गया। चारुदत्त सेठ कई करोड़ दीनारोंका स्वामी था। उससे बसंतमाला, तब तक ही प्रीति वचनालाप करती रही जब तक उससे धन प्राप्त होता रहा। जब कुछ न बचा तो क्या दुर्दशा हुई कि जब वह घरसे जाय ही नहीं तो संडासमें पटकवा दिया। जब सुअरोंने चाटा, भंगियोंको मालूम पड़ा तब वहांसे निकाला गया। जीवकी प्रकृति देखो कब कितनी बुरी हो जाती है? जब उसे विवेक आया तब उसका जीवनस्तर इतना पवित्र बना कि उसे क्या कहा जाय?

निवृत्तिभावका यत्न— संसारमें जो कुछ भी न्यौछावर है वह भावों का न्यौछावर है, वस्तुका नहीं। भले ही कुछ स्वप्नमें नगरीमें पदार्थोंका न्यौछावर बन गया, पर उसमें भी मूलस्रोत निहारो तो वह सब भावोंका ही न्यौछावर है। मनुष्यकी आवश्यकता और मनुष्यभव—यह सर्वपदार्थोंका मूल्य है। इसलिए अपने भावोंकी स्वच्छता बनाये रहनेका निरन्तर यत्न करना चाहिए। कभी कोई कषायभाव जगे तो उस कालमें भी इतना विवेक रखें कि यह कषाय आयी है तो यह नाशके लिए आयी है। अभी जाने वाली है किन्तु इसका ग्रहण करके, अपना अपमान करके हम बहुत काल तक बरबाद होते रहेंगे। इसलिए जैसे किसी दुष्टसे पाला पड़ जाय तो जो भी सही राज होता है, उपाय होता है, उस उपायसे उससे दूर हो जाता है। ऐसे ही इन विषय-कषायोंके परिणामसे पाला पड़ गया है तो जिस सुन्दर उपायसे ये विषयकषायोंके परिणाम हट जायें उसे करे। ये सीधे नहीं हटते हैं तो थोड़े रूपसे उन्हें ऊपरसे रुचि करके हटा डालें।

निर्नयका निर्णय— ज्ञानीपुरुष अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी निष्ठामें रहते हैं। यह अन्तस्तत्त्व शुद्धनय और अशुद्धनय दोनों नयोंसे परे है। प्राक् पदवीमें यद्यपि इन जीवोंको व्यवहारका हस्तावलम्बन है, किन्तु अन्तस्तत्त्वमें कदम रखने पर यह व्यवहारनयमात्र ज्ञेय रहता है और निश्चयनयका आश्रय होता है। पश्चात् व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों का आश्रय टूट जाता है और दोनों नयोंसे, दोनों पक्षोंसे रहित शुद्ध चिन्मात्रका संचेतन रह जाता है। जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें ऐसा पूछा जाय कि बतावो क्या जीवका स्वरूप राग है? तो यह समझमें झट आयेगा कि जीवका स्वरूप राग तो नहीं है और जब पूछा जाय कि जीव का स्वरूप क्या रागरहित है? तो उत्तर यही है कि आत्मतत्त्व रागरहित भी नहीं है, रागसहित भी नहीं है, वह तो ज्ञानमात्र है।

वस्तुस्वरूपकी परानपेक्षता— वस्तुस्वरूपके दिग्दर्शनके लिये एक

विषयोंमें डोलता है। यह ही पर घर है, किन्तु हर जगहसे ललकारा गया। चारुदत्त सेठ कई करोड़ दीनारोंका स्वामी था। उससे वसंतमाला, तब तक ही प्रीति वचनालाप करती रही जब तक उससे धन प्राप्त होता रहा। जब कुछ न बचा तो क्या दुर्दशा हुई कि जब वह घरसे जाय ही नहीं तो संडासमें पटकवा दिया। जब सुअरोंने चाटा, भंगियोंको मालूम पड़ा तब वहांसे निकाला गया। जीवकी प्रकृति देखो कब कितनी बुरी हो जाती है? जब उसे विवेक आया तब उसका जीवनस्तर इतना पवित्र बना कि उसे क्या कहा जाय?

निवृत्तिभावका यत्न— संसारमें जो कुछ भी न्यौछावर है वह भावों का न्यौछावर है, वस्तुका नहीं। भले ही कुछ स्वप्नमें नगरीमें पदार्थोंका न्यौछावर बन गया, पर उसमें भी मूलस्रोत निहारो तो वह सब भावोंका ही न्यौछावर है। मनुष्यकी आवश्यकता और मनुष्यभव—यह सर्वपदार्थोंका मूल्य है। इसलिए अपने भावोंकी स्वच्छता बनाये रहनेका निरन्तर यत्न करना चाहिए। कभी कोई कषायभाव जगे तो उस कालमें भी इतना विवेक रखें कि यह कषाय आयी है तो यह नाशके लिए आयी है। अभी जाने वाली है किन्तु इसका ग्रहण करके, अपना अपमान करके हम बहुत काल तक बरबाद होते रहेंगे। इसलिए जैसे किसी दुष्टसे पाला पड़ जाय तो जो भी सही राज होता है, उपाय होता है, उस उपायसे उससे दूर हो जाता है। ऐसे ही इन विषय-कषायोंके परिणामसे पाला पड़ गया है तो जिस सुन्दर उपायसे ये विषयकषायोंके परिणाम हट जायें उसे करे। ये सीधे नहीं हटते हैं तो थोड़े रूपसे उन्हें ऊपरसे रुचि करके हटा डालें।

निर्णयका निर्णय— ज्ञानीपुरुष अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी निष्ठामें रहते हैं। यह अन्तस्तत्त्व शुद्धनय और अशुद्धनय दोनों नयोंसे परे है। प्राक् पदवीमें यद्यपि इन जीवोंको व्यवहारका हस्तावलम्बन है, किन्तु अन्तस्तत्त्वमें कदम रखने पर यह व्यवहारनयमात्र ज्ञेय रहता है और निश्चयनयका आश्रय होता है। पश्चात् व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों का आश्रय टूट जाता है और दोनों नयोंसे, दोनों पक्षोंसे रहित शुद्ध चिन्मात्रका संचेतन रह जाता है। जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें ऐसा पूछा जाय कि बतावो क्या जीवका स्वरूप राग है? तो यह समझमें झट आयेगा कि जीवका स्वरूप राग तो नहीं है और जब पूछा जाय कि जीव का स्वरूप क्या रागरहित है? तो उत्तर यही है कि आत्मतत्त्व रागरहित भी नहीं है, रागसहित भी नहीं है, वह तो ज्ञानमात्र है।

वस्तुस्वरूपकी परानपेक्षता— वस्तुस्वरूपके दिग्दर्शनके लिये एक

मानो फिर जो चाहोगे सो सामने खड़ा हो जायेगा। अरे आवो तो निकट तुम्हारी कोई भी इच्छा यदि खाली रह जाय तो फिर प्रश्न करना। अरे भाई तो युक्ति से तो समझावो। लो युक्तिसे समझलो। तुम्हें आम खानेसे काम है या गुठली गिनने से काम है? अगर गुठली गिनने से काम है तो आप जावो दूसरी जगह और आम खाने से काम है तो यहां रहो। तुम्हें आनन्द पाने से काम है या इस महल दुकानसे काम है? अगर महल दुकानसे काम है तो जावो और अगर आनन्द पानेसे काम है तो बैठो। यह सहज चैतन्यस्वरूप इस प्रकारका स्वभाव वाला है कि उस मेरे स्वरूप में जब उपयोगका प्रवेश होता है तब वहां कोई इच्छा ही नहीं रहती। और देखो इच्छाके न रहनेका नाम है इच्छाकी पूर्ति।

इच्छाके अभावका नाम इच्छाकी पूर्ति— जैसे बोरामें गेहूं भरते हैं तो यह बोरा खूब भर जाय इसको आप कहेंगे कि बोरा भर गया, ऐसे ही जीवमें इच्छा आती है और इच्छा खूब भर दी जाय तो इसको इच्छाकी पूर्ति कहते हैं क्या? आप भोजन करते हैं, पेट भर खा लेते हैं तो आप कहते हैं कि हमारी इच्छाकी पूर्ति हो गयी, क्योंकि अब खानेकी इच्छा नहीं रही। इच्छाके न रहनेका नाम ही इच्छाकी पूर्ति है। यह चैतन्य-स्वभाव चिंतामणि ऐसा विलक्षण रत्न है कि इसके पा लेने पर समस्त इच्छावोंकी पूर्ति हो जाती है। तो यों चिंतामणि कहलाया चित्स्वभावका अवलोकन।

भोगके अभावमें सहज योग— भैया! इतनी सुगम सुविधा सहज प्राप्त होने पर भी कोई न माने और चित्त समर्थन न करे कि हां वास्तवमें यही सर्वस्व रत्न है और इसके पाने से ही हमें समस्त सुख होंगे, न कोई श्रद्धान करे और अपने स्वरूपसे चिग-चिगकर बाहरकी ओर दौड़ा करे तो उसके लिए क्या किया जाय? किसी भिखारीसे कोई सेठ कहे कि ऐ भिखारी! ये ५-७ दिनकी बासी रोटी तू झोलेमें भरे रक्खे है, इन्हें फेंक दे, मैं तुझे चार छः दिनको खाने के लिए ताजी पूड़ियां दूंगा। उसे विश्वास नहीं होता है। और वह सेठ इस बात पर ही अड़ जाय कि तू इन रोटियोंको फेंक दे तब मैं पूड़ियां दूंगा। तो उस सेठमें और भिखारी में मेल नहीं मिलती है। ऐसे ही यह इन्द्रियविषयोंका भिखारी विषयभोगों को अपने उपयोगके झोलेमें भरे रक्खे है, ये कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्र जी सूरि आदि सेठ लोग इससे कह रहे हैं कि तू इन बासी रोटियोंको फेंक दे, ये सब भव-भवके भोगे हुए जूठे हैं, तुझे हम बढ़िया आनन्द देंगे, लेकिन वास्तविकता इस बात पर अड़ लगाये है कि तू इन्हें फेंक तो दे

पानो फिर जो चाहोगे सो सामने खड़ा हो जायेगा। अरे आवो तो निकट तुम्हारी कोई भी इच्छा यदि खाली रह जाय तो फिर प्रश्न करना। अरे भाई तो युक्तिसे तो समझावो। लो युक्तिसे समझलो। तुम्हें आम खानेसे काम है या गुठली गिनने से काम है ? अगर गुठली गिनने से काम है तो आप जावो दूसरी जगह और आम खाने से काम है तो यहां रहो। तुम्हें आनन्द पाने से काम है या इस महल दुकानसे काम है ? अगर महल दुकानसे काम है तो जावो और अगर आनन्द पानेसे काम है तो बैठो। यह सहज चैतन्यस्वरूप इस प्रकारका स्वभाव वाला है कि उस मेरे स्वरूप में जब उपयोगका प्रवेश होना है तब वहां कोई इच्छा ही नहीं रहती। और देखो इच्छाके न रहनेका नाम है इच्छाकी पूर्ति।

इच्छाके अभावका नाम इच्छाकी पूर्ति— जैसे बोरामें गेहूं भरते हैं तो यह बोरा खूब भर जाय इसको आप कहेंगे कि बोरा भर गया, ऐसे ही जीवमें इच्छा आती है और इच्छा खूब भर दी जाय तो इसको इच्छाकी पूर्ति कहते हैं क्या ? आप भोजन करते हैं, पेट भर खा लेते हैं तो आप कहते हैं कि हमारी इच्छाकी पूर्ति हो गयी, क्योंकि अब खानेकी इच्छा नहीं रही। इच्छाके न रहनेका नाम ही इच्छाकी पूर्ति है। यह चैतन्य-स्वभाव चिंतामणि ऐसा विलक्षण रत्न है कि इसके पा लेने पर समस्त इच्छावोंकी पूर्ति हो जाती है। तो यों चिंतामणि कहलाया चित्स्वभावका अवलोकन।

भोगके अभावमें सहज योग— भैया ! इतनी सुगम सुविधा सहज प्राप्त होने पर भी कोई न माने और चित्त समर्थन न करे कि हां वास्तवमें यही सर्वस्व रत्न है और इसके पाने से ही हमें समस्त सुख होंगे, न कोई श्रद्धान करे और अपने स्वरूपसे चिग-चिगकर बाहरकी ओर दौड़ा करे तो उसके लिए क्या किया जाय ? किसी भिखारीसे कोई सेठ कहे कि ऐ भिखारी ! ये ४–७ दिनकी बासी रोटी तू झोलेमें भरे रक्खे है, इन्हें फेंक दे, मैं तुझे चार छः दिनको खाने के लिए ताजी पूड़ियां दूंगा। उसे विश्वास नहीं होता है। और वह सेठ इस बात पर ही अड़ जाय कि तू इन रोटियोंको फेंक दे तब मैं पूड़ियां दूंगा। तो उस सेठमें और भिखारी में मेल नहीं मिलता है। ऐसे ही यह इन्द्रियविषयोंका भिखारी विषयभोगों को अपने उपयोगके झोलेमें भरे रक्खे है, ये कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्र जी सूरि आदि सेठ लोग इससे कह रहे हैं कि तू इन बासी रोटियोंको फेंक दे, ये सब भव-भवके भोगे हुए जूठे हैं, तुझे हम बढ़िया आनन्द देंगे, लेकिन वास्तविकता इस बात पर अड़ लगाये है कि तू इन्हें फेंक तो दे

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

निश्चयकायगुप्ति— कायकी क्रियावोंकी निवृत्ति होना, कायका व्युत्सर्ग होना कायगुप्ति है अथवा हिंसा आदिक सर्वपापोंकी निवृत्ति होना सो कायगुप्ति है। जैसे जब कभी आश्चर्य वाली बात जाननेमें आती है तो शरीर कैसा स्तब्ध हो जाता है, कैसा दृढ़ स्थिर हो जाता है, इसमें किसी प्रकारका भाव कारण पड़ता है। यों ही कायगुप्तिकी सिद्धिमें आत्मामें शुद्ध भावोंका होना पहिला प्रमुख कारण है। बड़े-बड़े उपसर्गों में कायगुप्ति निभानेका यत्न होता है, तब कठिनतासे कायगुप्ति सिद्ध होती है। जैसे एक साधुने स्वयं बताया था कि मुझे कायगुप्ति यों नहीं हुई है कि मृतकासनसे ध्यान करते हुएकी स्थितिमें किसी मंत्रसाधकने हमारी इस खोपड़ीको मरी हुई खोपड़ी समझकर इस पर खिचड़ी पकायी थी। बहुत देर तक मैं सहता रहा, पर बादमें मेरा शरीर हिल गया। तो ऐसा कठिन जो कायगोपन है वह कायगोपन आत्मामें ज्ञानस्वभावकी दृष्टिकी स्थिरता बिना होना कठिन है। जान बूझकर शरीरको कोई न हिलाये डुलाये, स्थिर रखे यह अस्थायी काम है और ऐसा करने पर भी कायगुप्तिका जो प्रयोजन है, निर्विकल्प तत्त्वकी साधना है उससे तो वह दूर है। किन्तु जब अंतरंगमें भाव विशुद्धि हो, इस निष्क्रिय चित्स्वभाव को उपासना हो वहां जो कायगुप्ति बनती है वह मूलमें हितका प्रसार करती हुई दृढ़तासे बनती है।

कायगुप्तिका विवरण— सभी लोगोंके प्रायः कायसम्बन्धी बहुत सो क्रियाएँ होती हैं। उठना बैठना हिलना संकेत करना अनेक कार्य होते हैं। खोटे प्राणिधान वाली और भले प्रणिधान वाली क्रियाएँ होती हैं। उन सबकी निवृत्ति होना इस ही का नाम है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग मायने शरीरका त्यागके हैं। शरीरका त्याग क्या है कि क्रियावोंकी निवृत्ति होना और शरीरका लक्ष्य भी न रखना, मानो शरीर है ही नहीं। शरीरका कुछ ख्याल भी न रखना, केवल एक ज्ञानस्वरूपमें अपना उपयोग रखे इसे परमार्थसे कायोत्सर्ग कहते हैं। कायोत्सर्ग जहां है वहां ही कायगुप्ति है। अथवा ५ प्रकारके स्थावर और त्रस, इन ६ कायके जीवोंकी हिंसाका सर्वथा त्याग होना सो कायगुप्ति है। यह आत्मा इस कायगुप्तिसे सर्वथा भिन्न है। व्यवहारदृष्टिमें यह आत्मा बंधनको प्राप्त है, परस्वरूप दृष्टिसे पूर्ण बंधनरहित है। किन्तु देखो हाय कितनी प्रकारके जीव यहां नजर आ रहे हैं? कैसी-कैसी कुयोनियां, कैसे-कैसे खोटे कुल नजर आ रहे हैं? ये

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

निश्चयकायगुप्ति— कायकी क्रियाओंकी निवृत्ति होना, कायका व्युत्सर्ग होना कायगुप्ति है अथवा हिंसा आदिक सर्वपापोंकी निवृत्ति होना सो कायगुप्ति है। जैसे जब कभी आश्चर्य वाली बात जाननेमें आती है तो शरीर कैसा स्तब्ध हो जाता है, कैसा दृढ़ स्थिर हो जाता है, इसमें किसी प्रकारका भाव कारण पड़ता है। यों ही कायगुप्तिकी सिद्धिमें आत्मामें शुद्ध भावोंका होना पहिला प्रमुख कारण है। बड़े-बड़े उपसर्गों में कायगुप्ति निभानेका यत्न होता है, तब कठिनतासे कायगुप्ति सिद्ध होती है। जैसे एक साधुने स्वयं बताया था कि मुझे कायगुप्ति यों नहीं हुई है कि मृतकासनसे ध्यान करते हुएकी स्थितिमें किसी मंत्रसाधकने हमारी इस खोपड़ीको मरी हुई खोपड़ी समझकर इस पर खिचड़ी पकायी थी। बहुत देर तक मैं सहता रहा, पर बादमें मेरा शरीर हिल गया। तो ऐसा कठिन जो कायगोपन है वह कायगोपन आत्मामें ज्ञानस्वभावकी दृष्टिकी स्थिरता बिना होना कठिन है। जान बूझकर शरीरको कोई न हिलाये डुलाये, स्थिर रखे यह अस्थायी काम है और ऐसा करने पर भी कायगुप्तिका जो प्रयोजन है, निर्विकल्प तत्त्वकी साधना है उससे तो वह दूर है। किन्तु जब अंतरंगमें भाव विशुद्धि हो, इस निष्क्रिय चित्स्वभाव को उपासना हो वहां जो कायगुप्ति बनती है वह मूलमें हितका प्रसार करतो हुई दृढ़तासे बनती है।

कायगुप्तिका विवरण— सभी लोगोंके प्रायः कायसम्बन्धी बहुत सो क्रियाएँ होती हैं। उठना बैठना हिलना संकेत करना अनेक कार्य होते हैं। खोटे प्रणिधान वाली और भले प्रणिधान वाली क्रियाएँ होती हैं। उन सबकी निवृत्ति होना इस ही का नाम है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग मायने त्यागके हैं। शरीरका त्याग क्या है कि क्रियाओंकी निवृत्ति होना और शरीरका लक्ष्य भी न रखना, मानो शरीर है ही नहीं। शरीरका कुछ ख्याल भी न रखना, केवल एक ज्ञानस्वरूपमें अपना उपयोग रखे इसे परमार्थसे कायोत्सर्ग कहते हैं। कायोत्सर्ग जहां है वहां ही कायगुप्ति है। अथवा ५ प्रकारके स्थावर और त्रस, इन ६ कायके जीवोंकी हिंसाका सर्वथा त्याग होना सो कायगुप्ति है। यह आत्मा इस कायगुप्तिसे सर्वथा भिन्न है। व्यवहारदृष्टिमें यह आत्मा बंधनको प्राप्त है, परस्वरूप दृष्टिसे पूर्ण बंधनरहित है। किन्तु देखो हाय कितनी प्रकारके जीव यहां नजर आ रहे हैं? कैसी-कैसी कुयोनियां, कैसे-कैसे खोटे कुल नजर आ रहे हैं? ये

शरीरसे परम उपेक्षा हो जाती है। समाधिमरणमें समाधि धारण करने वाले तीन प्रकारके पुरुष होते हैं। एक तो वे जो इस शरीरकी दूसरोंसे सेवा नहीं कराते। उठना बैठना कुछ भी करना वे स्वयं ही करते हैं। एक तो ऐसे साधक होते हैं। एक ऐसे साधक होते हैं कि दूसरोंसे योग्य धर्मानुकूल वैयावृत्ति भी करा लेते हैं और एक ऐसे साधक होते हैं कि न शरीरकी खुद सेवा करते हैं और न किसी दूसरे से करवाते हैं। एक मोटे लक्कड़की भांति पड़े रहते हैं। इतनी उत्कृष्ट साधना किसके बलपर होती है? वह बल है आत्मतत्त्वके अनुभवका बल। इस शरीरसे कुछ प्रयोजन ही नहीं है। ऐसी स्थिति साधुवोंके योग्य होती है और साधुवोंके उपासक गृहस्थोंकी भी ऐसी चाह रहा करती है। ऐसे अहितमय शरीरसे परम उपेक्षा धारण करके स्थिर रहे, इसे कायगुप्ति कहते हैं।

योगीश्वरोंकी अन्तर्वृत्ति— परम संयमके धारी योगीश्वर अपने ही वास्तविक शरीरको अपने वास्तविक शरीरके साथ जोड़ते हैं अर्थात् ज्ञानमय शरीरको ज्ञानमें ही जोड़ते हैं, उनके निश्चयकायगुप्ति होती है। यद्यपि ज्ञानको शरीरकी उपमा देना कोई भली बात नहीं है लेकिन शरीर का परिचय रखने वाले जीवोंका प्रतिबोधन करने के लिए आत्माके स्वरूपको शरीरकी उपमा दी जाया करती है। शरीरका वाचक जो बौडी शब्द है वह शब्द बहुत व्यापक है, उसका प्रयोजन केवल शरीरसे नहीं है किन्तु जिस स्वरूपसे वस्तुका निर्माण होना है उस स्वरूपका नाम बौडी है। ऐसी ही भावभासना रखकर यदि यह कहा जाय कि ज्ञान ही जिसका शरीर है तो उस शरीरका अर्थ स्वरूप लेना अथवा एक शब्द आता है कलेवर। वह शब्द शरीर और कायसे भी व्यापक शब्द है। चाहे यों कहो कि बौडीका यदि कोई अन्वयार्थकपर्याय शब्द हो सकता है तो वह शब्द है कलेवर। जैसे लोग कहते हैं कि इसका कलेवर क्या है? इस मामलेकी जान क्या है? यों ही ज्ञान भीएक शरीर है परमार्थतः। उसमें ही अपने ज्ञानको जोड़ो, ज्ञानमात्र ही अपना कायका उत्सर्ग कहा जाता है।

निश्चय कायगुप्ति— कायिगुप्त अन्तरात्माकी अपरिस्पन्द मूर्ति हो जाती है। वह योगरहित, हलन चलन रहित हो जाता है। यहां उत्कृष्ट अयोगकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु यहां वहां हिलना डुलना रूप जो स्थूल योग है इन सब परिस्पंदों से रहित उसकी मूर्ति है ऐसी स्थितिका नाम है निश्चयकायगुप्ति। कायोत्सर्ग कहो अथवा कायगुप्ति कहो दोनों का भाव प्रायः एक है। जो पुरुष शरीरकी समस्त क्रियावोंका परिहार कर देता है और शरीरकी क्रियावोंके कारणभूत अथवा भवभ्रमणके कारणभूत

शरीरसे परम उपेक्षा हो जाती है। समाधिमरणमें समाधि धारण करने वाले तीन प्रकारके पुरुष होते हैं। एक तो वे जो इस शरीरकी दूसरोंसे सेवा नहीं कराते। उठना बैठना कुछ भी करना वे स्वयं ही करते हैं। एक तो ऐसे साधक होते हैं। एक ऐसे साधक होते हैं कि दूसरोंसे योग्य धर्मानुकूल वैयावृत्ति भी करा लेते हैं और एक ऐसे साधक होते हैं कि न शरीरकी खुद सेवा करते हैं और न किसी दूसरे से करवाते हैं। एक मोटे लक्कड़की भांति पड़े रहते हैं। इतनी उत्कृष्ट साधना किसके बलपर होती है? वह बल है आत्मतत्त्वके अनुभवका बल। इस शरीरसे कुछ प्रयोजन ही नहीं है। ऐसी स्थिति साधुवोंके योग्य होती है और साधुवोंके उपासक गृहस्थोंकी भी ऐसी चाह रहा करती है। ऐसे अहितमय शरीरसे परम उपेक्षा धारण करके स्थिर रहे, इसे कायगुप्ति कहते हैं।

योगीश्वरोंकी अन्तर्वृत्ति— परम संयमके धारी योगीश्वर अपने ही वास्तविक शरीरको अपने वास्तविक शरीरके साथ जोड़ते हैं अर्थात् ज्ञानमय शरीरको ज्ञानमें ही जोड़ते हैं, उनके निश्चयकायगुप्ति होती है। यद्यपि ज्ञानको शरीरकी उपमा देना कोई भली बात नहीं है लेकिन शरीर का परिचय रखने वाले जीवोंको प्रतिबोधन करने के लिए आत्माके स्वरूपको शरीरकी उपमा दी जाया करती है। शरीरका वाचक जो बौडी शब्द है वह शब्द बहुत व्यापक है, उसका प्रयोजन केवल शरीरसे नहीं है किन्तु जिस स्वरूपसे वस्तुका निर्माण होना है उस स्वरूपका नाम बौडी है। ऐसी ही भावभासना रखकर यदि यह कहा जाय कि ज्ञान ही जिसका शरीर है तो उस शरीरका अर्थ स्वरूप लेना अथवा एक शब्द आता है कलेवर। वह शब्द शरीर और कायसे भी व्यापक शब्द है। चाहे यों कहो कि बौडीका यदि कोई अन्वयार्थकपर्याय शब्द हो सकता है तो वह शब्द है कलेवर। जैसे लोग कहते हैं कि इसका कलेवर क्या है? इस मामलेकी जान क्या है? यों ही ज्ञान भीएक शरीर है परमार्थतः। उसमें ही अपने ज्ञानको जोड़ो, ज्ञानमात्र ही अपना कायका उत्सर्ग कहा जाता है।

निश्चय कायगुप्ति— कायगुप्त अन्तरात्माकी अपरिस्पन्द मूर्ति हो जाती है। वह योगरहित, हलन चलन रहित हो जाता है। यहां उत्कृष्ट अयोगकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु यहां वहां हिलना डुलना रूप जो स्थूल योग है इन सब परिस्पंदों से रहित उसकी मूर्ति है ऐसी स्थितिका नाम है निश्चयकायगुप्ति। कायोत्सर्ग कहो अथवा कायगुप्ति कहो दोनों का भाव प्रायः एक है। जो पुरुष शरीरकी समस्त क्रियावोंका परिहार कर देता है और शरीरकी क्रियावोंके कारणभूत अथवा भवभ्रमणके कारणभूत

कारणभूत विभावोंका भी त्याग करें। जो व्यग्रतारहित आत्मस्वरूपमें स्थित होता है उसके ही निश्चयकायगुप्ति कही गई है।

गुप्तिसाधनामें मूलभावना— जितने भी अवगुण हैं उनके विजय का उपाय उन अवगुणोंके विपरीत गुणोंपर दृष्टि करना है। जैसे इन्द्रिय विजयमें जड़ द्रव्येन्द्रियका विजय चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे होता है। मैं चैतन्यस्वरूप हूं, ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं। खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियका विजय अखण्डज्ञानस्वरूप निजकी प्रवृत्तिसे होता है और संगरूप विषयों-का विजय असंग आकिञ्चन निज अंतस्तत्त्वके अवलोकनसे होता है, यों कायगुप्तिका विजय यह ज्ञानी संत इस भावनामें कर रहा है कि मेरा तो अपरिस्पंद स्वरूप है, योगरहित स्वरूप है, निष्क्रिय धर्मद्रव्यकी तरह जहां के तहां स्पंदरहित होकर अवस्थित रहना ही मेरा स्वरूप है। जैसे मेरे स्वरूपमें ज्ञान दर्शन आनन्द आदि गुण हैं तैसे मैं परिस्पंदरहित निष्क्रिय ज्ञानमात्र हूं। ऐसे इस योगरहित अंतस्तत्त्वके योग कहांसे होगा? हलन चलन ही नहीं होता। यों भावना रखने वाले साधुके कायगुप्ति होती है और कायगुप्ति ही क्या तीनों गुप्तियां होती हैं।

योगरहित व योगसाधनरहित आत्मतत्त्वकी भावना— ये समस्त योग मूलमें तीन प्रकारके हैं— मनोयोग, वचनयोग, काययोग और इसके उत्तरभेद १५ प्रकारके हैं, चार मनोयोग हैं, सत्य मनोयोग, असत्यमनोयोग उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग। वचनयोग हैं— सत्यवचनयोग, असत्य वचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभय वचनयोग और औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारक मिश्रकाययोग और कार्माणकाययोग— ये ७ प्रकारके काययोग हैं। ये योग होते क्यों हैं? उन योगोंकी उत्पत्ति होनेमें कौनसा कर्मोदय कारण है? इस पर विचार करें तो यद्यपि सामान्यतया प्रायः सभी कर्मोदय सहायक होते हैं, फिर भी सामान्यतया योगके होने का कारण नामकर्मका उदय है। मन और काय ये दोनों शरीरके अंग हैं। मनसे प्रयोजन द्रव्यकर्मका है और वचन सुस्वर अथवा दुस्वर नामकर्मके उदयसे होते हैं। यों शरीर नामकर्मके उदयसे काययोग हुआ, मनोयोग हुआ और स्वर नामकर्मके उदयसे सह वचनयोग चलता है, इसके साथ-साथ विहायोगगति है, नाना प्रक्रियाएँ हैं, इनके उदयका निमित्त पाकर ये योग हो जाया करते हैं। योग होना मेरा स्वभाव नहीं है, मैं अयोग हूं ऐसे अपने स्वभावकी भावनाके बलसे उनके गुप्तिमें बहुत दृढ़ता आती है।

अष्टप्रवचन मातृकाका प्रसाधन— यहां प्रकरणमें तीन गुप्ति हैं,

कारणभूत विभावोंका भी त्याग करें। जो व्यग्रतारहित आत्मस्वरूपमें स्थित होता है उसके ही निश्चयकायगुप्ति कही गई है।

गुप्तिसाधनामें मूलभावना— जितने भी अवगुण हैं उनके विजय का उपाय उन अवगुणोंके विपरीत गुणोंपर दृष्टि करना है। जैसे इन्द्रिय विजयमें जड़ द्रव्येन्द्रियका विजय चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे होता है। मैं चैतन्यस्वरूप हूं, ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं। खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियका विजय अखण्डज्ञानस्वरूप निजकी प्रवृत्तिसे होता है और संगरूप विषयों का विजय असंग आकिञ्चन निज अंतस्तत्त्वके अवलोकनसे होता है, यों कायगुप्तिका विजय यह ज्ञानी संत इस भावनामें कर रहा है कि मेरा तो अपरिस्पंद स्वरूप है, योगरहित स्वरूप है, निष्क्रिय धर्मद्रव्यकी तरह जहां के तहां स्पंदरहित होकर अवस्थित रहना ही मेरा स्वरूप है। जैसे मेरे स्वरूपमें ज्ञान दर्शन आनन्द आदि गुण हैं तैसे मैं परिस्पंदरहित निष्क्रिय ज्ञानमात्र हूं। ऐसे इस योगरहित अंतस्तत्त्वके योग कहांसे होगा? हलन चलन ही नहीं होता। यों भावना रखने वाले साधुके कायगुप्ति होती है और कायगुप्ति ही क्या तीनों गुप्तियां होती हैं।

योगरहित व योगसाधनरहित आत्मतत्त्वकी भावना— ये समस्त योग मूलमें तीन प्रकारके हैं—मनोयोग, वचनयोग, काययोग और इसके उत्तरभेद १५ प्रकारके हैं, चार मनोयोग हैं, सत्य मनोयोग, असत्यमनोयोग उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग। वचनयोग हैं—सत्यवचनयोग, असत्य वचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभय वचनयोग और औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारक मिश्रकाययोग और कार्माणकाययोग—ये ७ प्रकारके काययोग हैं। ये योग होते क्यों हैं? उन योगोंकी उत्पत्ति होनेमें कौनसा कर्मोदय कारण है? इस पर विचार करें तो यद्यपि सामान्यतया प्रायः सभी कर्मोदय सहायक होते हैं, फिर भी सामान्यतया योगके होने का कारण नामकर्मका उदय है। मन और काय ये दोनों शरीरके अंग हैं। मनसे प्रयोजन द्रव्यकर्मका है और वचन सुस्वर अथवा दुस्वर नामकर्मके उदयसे होते हैं। यों शरीर नामकर्मके उदयसे काययोग हुआ, मनोयोग हुआ और स्वर नामकर्मके उदयसे यह वचनयोग चलता है, इसके साथ-साथ विहायोगगति है, नाना प्रक्रियाएँ हैं, इनके उदयका निमित्त पाकर ये योग हो जाया करते हैं। योग होना मेरा स्वभाव नहीं है, मैं अयोग हूं ऐसे अपने स्वभावकी भावनाके बलसे उनके गुप्तिमें बहुत दृढ़ता आती है।

अष्टप्रवचन मातृकाका प्रसाधन— यहां प्रकरणमें तीन गुप्ति हैं,

कोई लाठी का भी अवलम्बन अगर छोड़ दे तो वह तो पहिचान नहीं कर सकता, यदि उन दोनों व्यवहारोंका आलम्बन रखकर भी व्यवहारको छोड़कर आगे बढ़नेकी प्रकृति उसमें पड़ी हुई है। ऐसे ही व्यवहारका आलम्बन छोड़ दे तो भी काम बन नहीं सकता है। व्यवहारका आलम्बन करना भी है ज्ञानी, फिर भी व्यवहारका अलम्बन करता हुआ भी व्यवहारसे आगे के लिए उन्मुख रहा करता है।

व्यवहारमें रहकर भी व्यवहारसे परे की दृष्टि— ऐसे साधनोंके समय जिनका व्यवहार बढ़ जाता है जान बूझकर डटकर दृढ़ पकड़ना होता है ऐसी इसमें असहज वृत्ति तो व्यवहार को ही सर्वस्व मानने पर होती है, किन्तु जो निश्चयपथका अनुगमन करना चाहते हैं उनको व्यवहारका आलम्बन आगे बढ़नेके लिये होता है। जैसे नीचेसे ऊपर यहां लोग आते हैं, किन्तु इस जीनेमें कितनी सीढ़ियां हैं शायद किसीको मालूम नहीं होगा आते हो रोज-रोज लेकिन किसी को पता हो तो बतावो। शायद किसीको न विदित होगा। आप सीढ़ियोंसे चढ़कर उनका आलम्बन लेकर यहां तक आते हैं पर सीढ़ियोंके आलम्बनके समय भी क्या आपने किसी सीढ़ीसे प्यार किया? क्या किसीने कभी किसी सीढ़ीसे कहा कि रे सीढ़ी! तू बड़ी अच्छी है, हम तुम्हें नहीं छोड़ेंगे? अरे न छोड़ोगे तो पकड़े खड़े रहो। उन सीढ़ियोंका ऊपर तक आनेमें आलम्बन लिया जाता है। उनके आलम्बन बिना हम आप ऊपर चढ़ नहीं पाते हैं। फिर भी उन सीढ़ियोंसे आंतरिक प्रेम किसीने नहीं किया। जिस सीढ़ी पर पैर रख लिया उस सीढ़ीको आंखोंसे देखते भी नहीं, आगेकी सीढ़ीको देखते हैं। ऐसे ही जो निश्चयतत्त्वके अभ्यासीजन हैं जिन्हें सुविदित है भली प्रकार कि ऊपरी स्थान तो वह है जहां हम रोज कई बार जाते हैं, निःशंक होकर सीढ़ियों का आलम्बन करके उसका लक्ष्य रखकर ऊपर आ जाते हैं। यों ही निश्चयतत्त्वके अभ्यासी, अंतस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानी पुरुष मार्गमें आये हुए व्यवहारका आलम्बन करते हैं। उस आलम्बनमें भी निश्चयकी ओर उन्मुखता होती है और निश्चय भावनामें प्रवेश हो जाता है। इन अष्टप्रवचनमालिकावों का उन साधुवोंके मार्मिक ज्ञान बना रहता है।

कल्याणका मूल भेदविज्ञान— एक साधु था। उन्होंने एक व्यक्तिको एक बात पढ़ा दी थी - मा तुष, मा रुष। इसका अर्थ है किसी भी पदार्थमें न संतोष करना और न रोष करना। वह न समझा ज्यादा, पर उसे याद कर लिया। जल्दी-जल्दी याद करते में उसको तुषमाष ध्यानमें रह गया माषके मायने है उड़दकी दाल। इस 'माष' शब्दमें मूर्धन्य 'ष' है। बहुत

कोई लाठी का भी अवलम्बन अगर छोड़ दे तो वह तो पहिचान नहीं कर सकता, यदि उन दोनों व्यवहारोंका आलम्बन रखकर भी व्यवहारको छोड़कर आगे बढ़नेकी प्रकृति उसमें पड़ी हुई है। ऐसे ही व्यवहारका आलम्बन छोड़ दे तो भी काम बन नहीं सकता है। व्यवहारका आलम्बन करना भी है ज्ञानी, फिर भी व्यवहारका अलम्बन करता हुआ भी व्यवहारसे आगे के लिए उन्मुख रहा करता है।

व्यवहारमें रहकर भी व्यवहारसे परे की दृष्टि— ऐसे साधनोंके समय जिनका व्यवहार बढ़ जाता है जान बूझकर डटकर दृढ़ पकड़ना होता है ऐसी इसमें असहज वृत्ति तो व्यवहार को ही सर्वस्व मानने पर होती है, किन्तु जो निश्चयपथका अनुगमन करना चाहते हैं उनको व्यवहारका आलम्बन आगे बढ़नेके लिये होता है। जैसे नीचेसे ऊपर यहां लोग आते हैं, किन्तु इस जीनेमें कितनी सीढ़ियां हैं शायद किसीको मालूम नहीं होगा आते हो रोज-रोज लेकिन किसी को पता हो तो बतावो। शायद किसीको न विदित होगा। आप सीढ़ियोंसे चढ़कर उनका आलम्बन लेकर यहां तक आते हैं पर सीढ़ियोंके आलम्बनके समय भी क्या आपने किसी सीढ़ीसे प्यार किया ? क्या किसीने कभी किसी सीढ़ीसे कहा कि रे सीढ़ी ! तू बड़ी अच्छी है, हम तुम्हें नहीं छोड़ेंगे ? अरे न छोड़ोगे तो पकड़े खड़े रहो। उन सीढ़ियोंका ऊपर तक आनेमें आलम्बन लिया जाता है। उनके आलम्बन बिना हम आप ऊपर चढ़ नहीं पाते हैं। फिर भी उन सीढ़ियोंसे आंतरिक प्रेम किसीने नहीं किया। जिस सीढ़ी पर पैर रख लिया उस सीढ़ीको आंखोंसे देखते भी नहीं, आगेकी सीढ़ीको देखते हैं। ऐसे ही जो निश्चय तत्त्वके अभ्यासीजन हैं जिन्हें सुविदित है भली प्रकार कि ऊपरी स्थान तो वह है जहां हम रोज कई बार जाते हैं, निःशंक होकर सीढ़ियों का आलम्बन करके उसका लक्ष्य रखकर ऊपर आ जाते हैं। यों ही निश्चयतत्त्वके अभ्यासी, अंतस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानी पुरुष मार्गमें आये हुए व्यवहारका आलम्बन करते हैं। उस आलम्बनमें भी निश्चयकी ओर उन्मुखता होती है और निश्चय भावनामें प्रवेश हो जाता है। इन अष्टप्रवचनमालिकावों का उन साधुवोंके मार्मिक ज्ञान बना रहता है।

कल्याणका मूल भेदविज्ञान— एक साधु था। उन्होंने एक व्यक्तिको एक बात पढ़ा दी थी - मा तुष, मा रुष। इसका अर्थ है किसी भी पदार्थमें न संतोष करना और न रोष करना। वह न समझा ज्यादा, पर उसे याद कर लिया। जल्दी-जल्दी याद करते में उसको तुषमाष ध्यानमें रह गया माषके मायने है उड़दकी दाल। इस 'माष' शब्दमें मूर्धन्य 'ष' है। बहुत

करके सत्य शाश्वत आनन्दका अनुभवका किया करता है।

जैन प्रयोगोंकी सारता व निष्पक्षता— भैया! सारे रूप बारबार रक्खे जा सकते हैं किन्तु यह साधुताका रूप बारबार नहीं रखा जा सकता है। एक बार रखा फिर उसका त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि साधुता के मिलने पर उसे ऐसा अतुल आनन्द प्राप्त होता है कि वह फिर अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता। जैसे कोई एक बार ही जैन मूर्तियोंकी मुद्राका चावसे दर्शन करले अथवा जैन शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन करले अथवा जैन गुरुवोंका सहवास करले तो फिर वह वहींका वहीं रह जायेगा, हट नहीं सकता। वहांसे क्यों हटे? आखिर चाहिए तो आनन्द ही ना। जब आनन्द मिल गया फिर हटनेकी आवश्यकता क्या है? इसी कारण जो इस वीतराग धर्मके विद्वेषी होते हैं वे यह प्रचार कर डालते हैं कि चाहे मर जावो पर जैनदर्शनके निकट मत पहुंचो। इस पर विवेकी दृढ़तम उत्तर देते हैं कि क्यों न पहुंचें, जब कि जैन दर्शन खुले आम यह घोषणा करता है कि तुम सर्व दर्शनोंकी बात जानो, आत्माकी और अनात्माकी बात जानो। अरे तुम आत्महितैषी हो, तुम जहां हित जंचे वहां रम जावो। यों ही एक बार गृहस्थीका परित्याग करके साधुता अङ्गीकार की जाय तो फिर वह दूसरा रूप नहीं बदल सकता।

ब्रह्मगुलालकी साधुता— ब्रह्मगुलाल मुनि जो नाना भेष रखा करते थे उनसे एक बार किसी ब्रह्मगुलालके द्वेषी ने ईर्ष्यावश राजा को यों समझाया कि महाराज जरा इनसे सिंहका रूप तो रखावो। राजाने कहा कि तुम कल सिंहका रूप रखकर आना। तो ब्रह्मगुलाल बोला, महाराज सिंहका रूप तो रख लूँगा, पर कहीं खून किसीका हो जाय तो माफ करना। हां हां माफ। वह आया सिंहका रूप रखकर। वैसा ही शौर्य वैसा ही बल रखकर वह आया तो राजाके पुत्रने उसे कुछ व्यंगात्मक शब्द कहे जैसे आ गया कुत्ता आदि तो उसके गुस्सा आया, जोश आया और पंजा मार दिया, वह राजपुत्र मर गया। सभामें हाहाकार मच गया, पर क्या किया जाय? राजा वचनबद्ध था। फिर उसी विद्वेषीने राजाको सिखाया कि महाराज! इससे मुनिका रूप दिखावो। राजाने कहा कि ऐ ब्रह्मगुलाल! तुम मुनिका रूप धरकर दिखावो, तो ब्रह्मगुलाल बोला कि इस रूपके तैयार करनेमें हमें ६ महीने लगेंगे। उसने ६ माह तक खूब ध्यान, मनन चिंतवन किया और ६ माह बाद दरबारके सामने से मुनि बनकर निकल गया। लोगोंने बहुत समझाया कि लौट आवो क्योंकि दरबारमें आपका जैसा व्यक्ति मनको हरने वाला और कोई न मिलेगा तो ब्रह्मगुलाल मुनिने कहा

करके सत्य शाश्वत आनन्दका अनुभवका किया करता है।

जैन प्रयोगोंकी सारता व निष्पक्षता— भैया! सारे रूप बारबार रक्खे जा सकते हैं किन्तु यह साधुताका रूप बारबार नहीं रखा जा सकता है। एक बार रखा फिर उसका त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि साधुता के मिलने पर उसे ऐसा अतुल आनन्द प्राप्त होता है कि वह फिर अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता। जैसे कोई एक बार ही जैन मूर्तियोंकी मुद्राका चावसे दर्शन करले अथवा जैन शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन करले अथवा जैन गुरुवोंका सहवास करले तो फिर वह वहींका वहीं रह जायेगा, हट नहीं सकता। वहांसे क्यों हटे? आखिर चाहिए तो आनन्द ही ना। जब आनन्द मिल गया फिर हटनेकी आवश्यकता क्या है? इसी कारण जो इस वीतराग धर्मके विद्वेषी होते हैं वे यह प्रचार कर डालते हैं कि चाहे मर जावो पर जैनदर्शनके निकट मत पहुंचो। इस पर विवेकी दृढ़तम उत्तर देते हैं कि क्यों न पहुंचें, जब कि जैन दर्शन खुले आम यह घोषणा करता है कि तुम सर्व दर्शनोंकी बात जानो, आत्माकी और अनात्माकी बात जानो। अरे तुम आत्महितैषी हो, तुम जहां हित जंचे वहां रम जावो। यों ही एक बार गृहस्थीका परित्याग करके साधुता अङ्गीकार की जाय तो फिर वह दूसरा रूप नहीं बदल सकता।

ब्रह्मगुलालकी साधुता— ब्रह्मगुलाल मुनि जो नाना भेष रखा करते थे उनसे एक बार किसी ब्रह्मगुलालके द्वेषी ने ईर्ष्यावश राजा को यों समझाया कि महाराज जरा इनसे सिंहका रूप तो रखावो। राजाने कहा कि तुम कल सिंहका रूप रखकर आना। तो ब्रह्मगुलाल बोला, महाराज सिंहका रूप तो रख लूँगा, पर कहीं खून किसीका हो जाय तो माफ करना। हां हां माफ। वह आया सिंहका रूप रखकर। वैसा ही शौर्य वैसा ही बल रखकर वह आया तो राजाके पुत्रने उसे कुछ व्यंगात्मक शब्द कहे जैसे आ गया कुत्ता आदि तो उसके गुस्सा आया, जोश आया और पंजा मार दिया, वह राजपुत्र मर गया। सभामें हाहाकार मच गया, पर क्या किया जाय? राजा वचनबद्ध था। फिर उसी विद्वेषीने राजाको सिखाया कि महाराज! इससे मुनिका रूप दिखावो। राजाने कहा कि ऐ ब्रह्मगुलाल! तुम मुनिका रूप धरकर दिखावो, तो ब्रह्मगुलाल बोला कि इस रूपके तैयार करनेमें हमें ६ महीने लगेंगे। उसने ६ माह तक खूब ध्यान, मनन चिंतवन किया और ६ माह बाद दरबारके सामने से मुनि बनकर निकल गया। लोगोंने बहुत समझाया कि लौट आवो क्योंकि दरबारमें आपका जैसा व्यक्ति मनको हरने वाला और कोई न मिलेगा तो ब्रह्मगुलाल मुनिने कहा

होता है। इसके पश्चात् श्रेणी पर पहुंचने पर अर्थात् शुक्ल ध्यानकी अवस्थामें संज्वलन लोभको छोड़कर २१ प्रकृतियोंसे २० प्रकृतियोंका विनाश हो जाता है और संज्वलन लोभका विनाश होता है। दसवें गुणस्थानके अन्तमें यों दसवें गुणस्थान तक उस मोहनीयका सर्वापहारी लोप हो जाता है।

मोहनीयके क्षयके पश्चात् शेष तीन घातियाकर्मोंका युगपत् क्षय— क्षपकश्रेणीमें बढ़ते हुए जीव दसवेंके बाद एकदम १२ वें गुणस्थानमें पहुंचते हैं। कहीं यह नहीं जानना कि १० वें के बाद छलांग मार कर १२ वें में पहुंचता है। ११ वें को छोड़कर यह गुणस्थान भींतके ईंटकी तरह बंध हुए नहीं हैं। जो परिणाम हो उनका ही नाम गुणस्थान है। १० वें गुणस्थानके परिणामके बाद एकदम मोहरहित अवस्था हो जाती है। इसका नाम है बारहवां गुणस्थान। अब यह साधु परमेष्ठी १२वें गुणस्थानके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको एक साथ क्षय कर देता है। यों १२ वें गुणस्थानके अन्तमें चारघातिया कर्मोंका अभाव हो जाता है। १२ वें गुणस्थानमें इन कर्मोंका विनाश होता है, इसका अर्थ यह है कि १२ वें के अन्त तक तो वह है और १३ वें के प्रारम्भमें वह नदारत है। यों घनघातिया कर्मोंसे रहित यह सयोगकेवली जिन हो जाता है।

सयोगकेवलीका आकर्षण— इस सयोगकेवली भगवान्को भगवान् के रूपमें निरखा जाता है। साधुके ५ भेद किये हैं पुलाक, वकुश, कुशील निर्ग्रन्थ व स्नातक। ये भगवान् सयोगकेवली हमारे स्नातक साधु हैं। नहा चुके हुए साधु, धुल चुके साधु। अब कोई कर्मफल इन पर नहीं रहा। अरहद्भक्तिमें बड़ी विशेषताएँ हैं क्योंकि अरहंतदेवमें साकारता निराकारता का समन्वय है, सगुण और निर्गुणका समन्वय है। भगवान् हमारे कुटुम्बी है और मुक्तजीवोंके भी कुटुम्बी हैं, ऐसा समन्वय है। इस कारण अरहंत भगवान्की बहुत बड़ी विशेषताएँ हो जाती हैं। दूसरे के लड़केमें कोई कला हो तो उसको देखकर अन्तरङ्गके रोम उतने नहीं खिल पाते हैं जितने कि अपने बच्चेमें कोई कला आ जाने पर खिल जाते हैं। अरहंत भगवान् यहीं तो रहते हैं। आज यहां नहीं है न सही, पर वे इसही ढाई द्वीपमें तो रहा करते हैं। मनुष्योंके बीच ही तो रहा करते हैं। मनुष्य उनको नजर भर तृप्त होकर देखा तो करते हैं। जिनकी वीतरागताके प्रतापसे सोलह स्वर्ग करीब करीब खाली हो जाते हैं, और उनके देव समवशरणमें जाया करते हैं। यह किसका आकर्षण है? यह निर्दोषताका आकर्षण है। निर्दोष व्यक्ति सबका बंधु है, सदोष व्यक्ति भाईका भी बंधु

होता है। इसके पश्चात् श्रेणी पर पहुंचने पर अर्थात् शुक्ल ध्यानकी अवस्थामें संज्वलन लोभको छोड़कर २१ प्रकृतियोंसे २० प्रकृतियोंका विनाश हो जाता है और संज्वलन लोभका विनाश होता है। दसवें गुणस्थानके अन्तमें यों दसवें गुणस्थान तक उस मोहनीयका सर्वापहारी लोप हो जाता है।

मोहनीयके क्षयके पश्चात् शेष तीन घातियाकर्मोंका युगपत् क्षय— क्षपकश्रेणीमें बढ़ते हुए जीव दसवेंके बाद एकदम १२ वे गुणस्थानमें पहुँचते हैं। कहीं यह नहीं जानना कि १० वें के बाद छलांग मार कर १२ वें में पहुंचता है। ११ वें को छोड़कर यह गुणस्थान भींतके ईंटकी तरह बँधे हुए नहीं हैं। जो परिणाम हो उनका ही नाम गुणस्थान है। १० वें गुणस्थानके परिणामके बाद एकदम मोहरहित अवस्था हो जाती है। इसका नाम है बारहवां गुणस्थान। अब यह साधु परमेष्ठी १२वें गुणस्थानके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको एक साथ क्षय कर देता है। यों १२ वें गुणस्थानके अन्तमें चारघातिया कर्मोंका अभाव हो जाता है। १२ वें गुणस्थानमें इन कर्मोंका विनाश होता है, इसका अर्थ यह है कि १२ वें के अन्त तक तो वह है और १३ वें के प्रारम्भमें वह नदारत है। यों घनघातिया कर्मोंसे रहित यह सयोगकेवली जिन हो जाता है।

सयोगकेवलीका आकर्षण— इस सयोगकेवली भगवान्को भगवान् के रूपमें निरखा जाता है। साधुके ५ भेद किये हैं पुलाक, बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ व स्नातक। ये भगवान् सयोगकेवली हमारे स्नातक साधु हैं। नहा चुके हुए साधु, धुल चुके साधु। अब कोई कर्मफल इन पर नहीं रहा। अरहद्भक्तिमें बड़ी विशेषताएँ हैं क्योंकि अरहंतदेवमें साकारता निराकारता का समन्वय है, सगुण और निर्गुणका समन्वय है। भगवान् हमारे कुटुम्बी हैं और मुक्तजीवोंके भी कुटुम्बी हैं, ऐसा समन्वय है। इस कारण अरहंत भगवान्की बहुत बड़ी विशेषताएँ हो जाती हैं। दूसरे के लड़केमें कोई कला हो तो उसको देखकर अन्तरङ्गके रोम उतने नहीं खिल पाते हैं जितने कि अपने बच्चेमें कोई कला आ जाने पर खिल जाते हैं। अरहंत भगवान् यहीं तो रहते हैं। आज यहां नहीं है न सही, पर वे इसही ढाई द्वीपमें तो रहा करते हैं। मनुष्योंके बीच ही तो रहा करते हैं। मनुष्य उनको नजर भर तृप्त होकर देखा तो करते हैं। जिनकी वीतरागताके प्रतापसे सोलह स्वर्ग करीब करीब खाली हो जाते हैं, और उनके देव समवशरणमें जाया करते हैं। यह किसका आकर्षण है? यह निर्दोषताका आकर्षण है। निर्दोष व्यक्ति सबका बंधु है, सदोष व्यक्ति भाईका भी बंधु

होता है। इसके पश्चात् श्रेणी पर पहुंचने पर अर्थात् शुक्ल ध्यानकी अवस्थामें संज्वलन लोभको छोड़कर २१ प्रकृतियोंसे २० प्रकृतियोंका विनाश हो जाता है और संज्वलन लोभका विनाश होता है। दसवें गुणस्थानके अन्तमें यों दसवें गुणस्थान तक उस मोहनीयका सर्वापहारी लोप हो जाता है।

मोहनीयके क्षयके पश्चात् शेष तीन घातियाकर्मोंका युगपत क्षय—क्षपकश्रेणीमें बढ़ते हुए जीव दसवेंके बाद एकदम १२ वें गुणस्थानमें पहुंचते हैं। कहीं यह नहीं जानना कि १० वें के बाद छलांग मार कर १२ वें में पहुंचता है। ११ वें को छोड़कर यह गुणस्थान भींतके ईटकी तरह बँधे हुए नहीं हैं। जो परिणाम हो उनका ही नाम गुणस्थान है। १० वें गुणस्थानके परिणामके बाद एकदम मोहरहित अवस्था हो जाती है। इसका नाम है बारहवां गुणस्थान। अब यह साधु परमेष्ठी १२वें गुणस्थानके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको एक साथ क्षय कर देता है। यों १२ वें गुणस्थानके अन्तमें चारघातिया कर्मोंका अभाव हो जाता है। १२ वें गुणस्थानमें इन कर्मोंका विनाश होता है, इसका अर्थ यह है कि १२ वें के अन्त तक तो वह है और १३ वें के प्रारम्भमें वह नदारत है। यों घनघातिया कर्मोंसे रहित यह सयोगकेवली जिन हो जाता है।

सयोगकेवलीका आकर्षण— इस सयोगकेवली भगवान्को भगवान् के रूपमें निरखा जाता है। साधुके ५ भेद किये हैं पुलाक, बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ व स्नातक। ये भगवान् सयोगकेवली हमारे स्नातक साधु हैं। नहा चुके हुए साधु, धुल चुके साधु। अब कोई कर्मफल इन पर नहीं रहा। अरहद्भक्तिमें बड़ी विशेषताएँ हैं क्योंकि अरहंतदेवमें साकारता निराकारता का समन्वय है, सगुण और निर्गुणका समन्वय है। भगवान् हमारे कुटुम्बी हैं और मुक्तजीवोंके भी कुटुम्बी हैं, ऐसा समन्वय है। इस कारण अरहंत भगवान्की बहुत बड़ी विशेषताएँ हो जाती हैं। दूसरे के लड़केमें कोई कला हो तो उसको देखकर अन्तरङ्गके रोम उतने नहीं खिल पाते हैं जितने कि अपने बच्चेमें कोई कला आ जाने पर खिल जाते हैं। अरहंत भगवान् यहीं तो रहते हैं। आज यहां नहीं है न सही, पर वे इसही ढाई द्वीपमें तो रहा करते हैं। मनुष्योंके बीच ही तो रहा करते हैं। मनुष्य उनको नजर भर तृप्त होकर देखा तो करते हैं। जिनकी वीतरागताके प्रतापसे सोलह स्वर्ग करीब करीब खाली हो जाते हैं, और उनके देव समवशरणमें जाया करते हैं। यह किसका आकर्षण है? यह निर्दोषताका आकर्षण है। निर्दोष व्यक्ति सबका बंधु है, सदोष व्यक्ति भाईका भी बंधु

होता है। इसके पश्चात् श्रेणी पर पहुंचने पर अर्थात् शुक्ल ध्यानकी अवस्थामें संज्वलन लोभको छोड़कर २१ प्रकृतियोंसे २० प्रकृतियोंका विनाश हो जाता है और संज्वलन लोभका विनाश होता है। दसवें गुणस्थानके अन्तमें यों दसवें गुणस्थान तक उस मोहनीयका सर्वापहारी लोप हो जाता है।

मोहनीयके क्षयके पश्चात् शेष तीन घातियाकर्मोंका युगपत क्षय-- क्षपकश्रेणीमें बढ़ते हुए जीव दसवेंके बाद एकदम १२ वें गुणस्थानमें पहुंचते हैं। कहीं यह नहीं जानना कि १० वें के बाद छलांग मार कर १२ वें में पहुंचता है। ११ वें को छोड़कर यह गुणस्थान भींतके ईंटकी तरह बँध हुए नहीं हैं। जो परिणाम हो उनका ही नाम गुणस्थान है। १० वें गुणस्थानके परिणामके बाद एकदम मोहरहित अवस्था हो जाती है। इसका नाम है बारहवां गुणस्थान। अब यह साधु परमेष्ठी १२वें गुणस्थानके अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको एक साथ क्षय कर देता है। यों १२ वें गुणस्थानके अन्तमें चारघातिया कर्मोंका अभाव हो जाता है। १२ वें गुणस्थानमें इन कर्मोंका विनाश होता है, इसका अर्थ यह है कि १२ वें के अन्त तक तो वह है और १३ वें के प्रारम्भमें वह नदारत है। यों घनघातिया कर्मोंसे रहित यह सयोगकेवली जिन हो जाता है।

सयोगकेवलीका आकर्षण— इस सयोगकेवली भगवान्को भगवान् के रूपमें निरखा जाता है। साधुके ५ भेद किये हैं पुलाक, बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ व स्नातक। ये भगवान् सयोगकेवली हमारे स्नातक साधु हैं। नहा चुके हुए साधु, धुल चुके साधु। अब कोई कर्मफल इन पर नहीं रहा। अरहद्भक्तिमें बड़ी विशेषताएँ हैं क्योंकि अरहंतदेवमें साकारता निराकारता का समन्वय है, सगुण और निर्गुणका समन्वय है। भगवान् हमारे कुटुम्बी हैं और मुक्तजीवोंके भी कुटुम्बी हैं, ऐसा समन्वय है। इस कारण अरहंत भगवान्की बहुत बड़ी विशेषताएँ हो जाती हैं। दूसरे के लड़केमें कोई कला हो तो उसको देखकर अन्तरङ्गके रोम उतने नहीं खिल पाते हैं जितने कि अपने बच्चेमें कोई कला आ जाने पर खिल जाते हैं। अरहंत भगवान् यहीं तो रहते हैं। आज यहां नहीं है न सही, पर वे इसही ढाई द्वीपमें तो रहा करते हैं। मनुष्योंके बीच ही तो रहा करते हैं। मनुष्य उनको नजर भर तृप्त होकर देखा तो करते हैं। जिनकी वीतरागताके प्रतापसे सोलह स्वर्ग करीब करीब खाली हो जाते हैं, और उनके देव समवशरणमें जाया करते हैं। यह किसका आकर्षण है? यह निर्दोषताका आकर्षण है। निर्दोष व्यक्ति सबका बंधु है, सदोष व्यक्ति भाईका भी बंधु

का साधन प्रायः प्रत्येकके उदयके साथ लगा हुआ है। इन असार पर जड़ पौद्गलिक पदार्थोंमें अपने उपयोग यों फंसाना कि यह ही मेरा सब कुछ है यह यहां मूढ़ता है। सोचते भी जावो तो भी कुछ नहीं होता है। मानने से भी परपदार्थ अपने नहीं हो जाते हैं। मोही तो केवल इन्हें अपना मानकर अपनेको बरबादीपर तुला है।

आत्मतत्त्वकी उपासनाका प्रताप— यह साधु परमेष्ठी वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानके बलसे समस्त अनात्मतत्त्वोंसे हटकर निज शुद्ध ज्ञायक स्वरूपमें मग्न होता है। उसके प्रतापसे ये अरहंत प्रभु हो जाते हैं। जिस किसीको यह पता भी न हो कि ८ वां गुणस्थान यों है, ९ वां गुणस्थान यों है, इस तरह की क्षपकश्रेणी है, इस तरहकी निषेकवर्गणायें व अति स्थापनाएं रहती हैं, यों यों कर्मोंका विध्वंस होता है, न कुछ पता हो, केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपका ही अनुभव हो तो वे सारे काम स्वयमेव हो जाते हैं। जिनका वर्णन करने के लिए श्रुतकेवली भी थक सकता है। एक मात्र काम है बढ़े चलो, अपने स्वरूपमें बढ़े चलो, मग्न रहो। करे तो कोई ऐसी हिम्मत किसी भी क्षण नहीं हो सकता है। २४ घंटे तो न सही, पर उन २४ घंटों में से दो एक मिनट भी ऐसी झलक चले तो बाह्यमें कहीं प्रलय न मच जायगी, घर जमीनमें न धँस जायगा। निरन्तर चितावोंका बोझ किसलिए लादते हो ? यह साधुपरमेष्ठी इस शुक्लध्यानके प्रतापसे जहां रागद्वेष का धब्बा नहीं, ऐसे बिलकुल सफेद ध्यानके प्रतापसे यह घातिया कर्मोंको हटा देता है।

प्रभुमें घातिकर्मकी मलरहितता— ये घातिया कर्म हैं आत्माके गुणोंका घात करने वाले। ये घनरूप हैं, सान्द्रीभूत हैं, ठोस हैं। जैसे गहन अंधकार हो जाता है, उस बीच कहीं अवकाश नहीं मिलता है। ये कर्म सब घन हैं, गहन हैं। इनके बीच कहीं अवकाश नहीं है। इस जीवके साथ जो यह शरीर लगा हुआ है उस शरीरमें अनन्त परमाणु हैं, जिनका अंत नहीं आ सकता। निकलते जावें, पर इनकी गिनतीका अन्त नहीं आ सकता और इससे भी अनन्तगुणे ऐसे शरीररूप बन सकनेकी उम्मीद रखने वाले विश्रसोपचय पड़े हैं, उनसे अनन्तगुणे तैजस शरीरके परमाणु पड़े हैं, उन-से अनन्तगुणे कर्म परमाणु पड़े हैं और अनन्तगुणे उम्मीद रखने वाले कहीं यह बच्चा भाग न जाय, ऐसा पहरा लगाते हुए विश्रसोपचय कार्माणवर्गणाके परमाणु पड़े हुए हैं। सोचो ये कर्मवर्गणाएं कितनी शाश्वतभूत हैं, घन हैं, ऐसे ये ज्ञानावरण दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म उनसे भी अत्यन्त विरहित हैं। इस निर्दोषताके कारण ये सकल विद्युध

का साधन प्रायः प्रत्येकके उदयके साथ लगा हुआ है। इन असार पर जड़ पौद्गलिक पदार्थोंमें अपने उपयोग यों फंसाना कि यह ही मेरा सब कुछ है यह यहां मूढ़ता है। सोचते भी जावो तो भी कुछ नहीं होता है। मानने से भी परपदार्थ अपने नहीं हो जाते हैं। मोही तो केवल इन्हें अपना मानकर अपनेको बरबादीपर तुला है।

आत्मतत्त्वकी उपासनाका प्रताप— यह साधु परमेष्ठी वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानके बलसे समस्त अनात्मतत्त्वोंसे हटकर निज शुद्ध ज्ञायक स्वरूपमें मग्न होता है। उसके प्रतापसे ये अरहंत प्रभु हो जाते हैं। जिस किसीको यह पता भी न हो कि ८ वां गुणस्थान यों है, ९ वां गुणस्थान यों है, इस तरह की क्षपकश्रेणी है, इस तरहकी निषेकवर्गणायें व अति स्थापनाएं रहती हैं, यों यों कर्मोंका विध्वंस होता है, न कुछ पता हो, केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपका ही अनुभव हो तो वे सारे काम स्वयमेव हो जाते हैं। जिनका वर्णन करने के लिए श्रुतकेवली भी थक सकता है। एक मात्र काम है बढ़े चलो, अपने स्वरूपमें बढ़े चलो, मग्न रहो। करे तो कोई ऐसी हिम्मत किसी भी क्षण नहीं हो सकता है। २४ घंटे तो न सही, पर उन २४ घंटों में से दो एक मिनट भी ऐसी झलक चले तो बाह्यमें कहीं प्रलय न मच जायगी, घर जमीनमें न धँस जायगा। निरन्तर चिंतावोंका बोझ किसलिए लादते हो ? यह साधुपरमेष्ठी इस शुक्लध्यानके प्रतापसे जहां रागद्वेष का धब्बा नहीं, ऐसे बिलकुल सफेद ध्यानके प्रतापसे यह घातिया कर्मोंको हटा देता है।

प्रभुमें घातिकर्मकी मलरहितता— ये घातिया कर्म हैं आत्माके गुणोंका घात करने वाले। ये घनरूप हैं, सान्द्रीभूत हैं, ठोस हैं। जैसे गहन अंधकार हो जाता है, उस बीच कहीं अवकाश नहीं मिलता है। ये कर्म सब घन हैं, गहन हैं। इनके बीच कहीं अवकाश नहीं है। इस जीवके साथ जो यह शरीर लगा हुआ है उस शरीरमें अनन्त परमाणु हैं, जिनका अंत नहीं आ सकता। निकलते जावें, पर इनकी गिनतीका अन्त नहीं आ सकता और इससे भी अनन्तगुणे ऐसे शरीररूप बन सकनेकी उम्मीद रखने वाले विश्रसोपचय पड़े हैं, उनसे अनन्तगुणे तैजस शरीरके परमाणु पड़े हैं, उन-से अनन्तगुणे कर्म परमाणु पड़े हैं और अनन्तगुणे उम्मीद रखने वाले कहीं यह बच्चा भाग न जाय, ऐसा पहरा लगाते हुए विश्रसोपचय कार्मा-णवर्गणाके परमाणु पड़े हुए हैं। सोचो ये कर्मवर्गणाएं कितनी शाश्वतभूत हैं, घन हैं, ऐसे ये ज्ञानावरण दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म उनसे भी अत्यन्त विरहित हैं। इस निर्दोषताके कारण ये सकल विबुध

जाती है। प्रभुके केवलज्ञान होने पर स्वर्गलोक खाली होने लगता है भगवानके चरणोंमें आनेके लिए अधोलोकके देव, अधोलोकके देव व इन्द्र आते हैं मनुष्य और तिर्यञ्च भी पहुंचते हैं। तीनों लोकमें एक बड़ा क्षोभ हो जाता है। क्षोभ केवल विषादमय अवस्थाको ही नहीं कहते हैं, किन्तु हर्षमय अवस्थामें भी क्षोभ होता है।

आकर्षणका कारण गुणविकास— तो तीनों लोकके ऐसे हर्षपूर्ण क्षोभका कारण प्रभुका गुणविकास है। ऐसा किसी को कहा जाय तो बड़ा भद्दा लगेगा। भगवान् को तो हुआ गुणोंका विकास और यहां लोकमें मच गई भगदड़। यहीं देखलो। आये तो हैं दसलाक्षणीके दिन, लेकिन सब जैनियोंमें खलबली मच गयी। तो ऐसा जो प्रक्षोभ है वह धर्मको लाने वाला है। ठीक है मान लिया, पर १२ महीने तो इतना प्रक्षोभ नहीं मचता जितना कि इन १० दिनोंमें मचा। मंदिरके पास बैठो तो इतना हल्ला मचता है कि सड़कोंपर सुनाई देता है। पूजन १२, १ बजे तक होता है, कहीं कुछ हो रहा है, कहीं कुछ हो रहा है, दसलाक्षणी आयी तो जैन समाजमें उथलपुथल होने लगी। यद्यपि यह उथलपुथल धर्मके भावसे है पर हुआ तो प्रक्षोभ।

गुणविकासका साधन— प्रभुमें सब जीवोंके आकर्षणका यह गुण विकास कैसे हुआ है? अन्तरंगकारण तो उनका ही उपादान है। बहिरंग कारण घातियाकर्मोंका प्रध्वंस विनाश है। जिन घातियाकर्मोंको प्रभुने पहिले संसार अवस्थामें बोया था उनके प्रध्वंसकी स्थिति उत्पन्न हुई है। प्रभु समस्त विश्वके ज्ञाता द्रष्टा होकर भी अपने आनन्दरसमें लीन रहा करते हैं। प्रभुमें और हम आपमें द्रव्यतः अन्तर नहीं है। प्रभुकी कथनी करके ही संतुष्ट मत हो जावो। प्रभुके गुण गा दिये, इतने मात्रसे ही अपने को कृतार्थ न समझो, किन्तु यह साहस बनावो कि यह मैं आत्मा जो अनादि कालसे घोर दुःखोंमें चल रहा हूं। उसमें वही सामर्थ्य है, जो अनन्तचतुष्टयसम्पन्न प्रभुमें पाया जाता है वही सामर्थ्य हम आपमें भी है।

प्रभुभक्तिका उद्देश्य— प्रत्येक प्रसंगमें जीव अपना लाभ चाहता है। धनिकोंसे सम्बन्ध रक्खे और कोई लाभका प्रयोजन वहां न रखे तो वह एक पागलपनसा प्रतीत होता है। ज्ञानियोंमें कोई अपना प्रसंग रक्खे और ज्ञानकी अथवा शांतिकी कोई भावना न करे तो उसका भी वह निरुद्देश्य प्रसंग है। यों ही धर्मकी साधना करे और वह कुछ न बन सके तो वह सारा श्रम ही व्यर्थ है। हम प्रभुकी जीतोड़ भक्ति करें, दूकान भी

जाती है। प्रभुके केवलज्ञान होने पर स्वर्गलोक खाली होने लगता है भगवानके चरणोंमें आनेके लिए अधोलोकके देव, अधोलोकके देव व इन्द्र आते हैं मनुष्य और तिर्यञ्च भी पहुंचते हैं। तीनों लोकमें एक बड़ा क्षोभ हो जाता है। क्षोभ केवल विषादमय अवस्थाको ही नहीं कहते हैं, किन्तु हर्षमय अवस्थामें भी क्षोभ होता है।

आकर्षणका कारण गुणविकास— तो तीनों लोकके ऐसे हर्षपूर्ण क्षोभका कारण प्रभुका गुणविकास है। ऐसा किसी को कहा जाय तो बड़ा भद्दा लगेगा। भगवान् को तो हुआ गुणोंका विकास और यहां लोकमें मच गई भगदड़। यहीं देखलो। आये तो हैं दसलाक्षणीके दिन, लेकिन सब जैनियोंमें खलबली मच गयी। तो ऐसा जो प्रक्षोभ है वह धर्मको लाने वाला है। ठीक है मान लिया, पर १२ महीने तो इतना प्रक्षोभ नहीं मचता जितना कि इन १० दिनोंमें मचा। मंदिरके पास बैठो तो इतना हल्ला मचता है कि सड़कोंपर सुनाई देता है। पूजन १२, १ बजे तक होता है, कहीं कुछ हो रहा है, कहीं कुछ हो रहा है, दसलाक्षणी आयी तो जैन समाजमें उथलपुथल होने लगी। यद्यपि यह उथलपुथल धर्मके भावसे है पर हुआ तो प्रक्षोभ।

गुणविकासका साधन— प्रभुमें सब जीवोंके आकर्षणका यह गुण विकास कैसे हुआ है? अन्तरंगकारण तो उनका ही उपादान है। बहिरंग कारण घातियाकर्मोंका प्रध्वंस विनाश है। जिन घातियाकर्मोंको प्रभुने पहिले संसार अवस्थामें बोया था उनके प्रध्वंसकी स्थिति उत्पन्न हुई है। प्रभु समस्त विश्वके ज्ञाता द्रष्टा होकर भी अपने आनन्दरसमें लीन रहा करते हैं। प्रभुमें और हम आपमें द्रव्यतः अन्तर नहीं है। प्रभुकी कथनी करके ही संतुष्ट मत हो जावो। प्रभुके गुण गा दिये, इतने मात्रसे ही अपने को कृतार्थ न समझो, किन्तु यह साहस बनावो कि यह मैं आत्मा जो अनादि कालसे घोर दुःखोंमें चल रहा हूं। उसमें वही सामर्थ्य है, जो अनन्तचतुष्टयसम्पन्न प्रभुमें पाया जाता है वही सामर्थ्य हम आपमें भी है।

प्रभुभक्तिका उद्देश्य— प्रत्येक प्रसंगमें जीव अपना लाभ चाहता है। धनिकोंसे सम्बन्ध रक्खे और कोई लाभका प्रयोजन वहां न रखे तो वह एक पागलपनसा प्रतीत होता है। ज्ञानियोंमें कोई अपना प्रसंग रक्खे और ज्ञानकी अथवा शांतिकी कोई भावना न करे तो उसका भी वह निरुद्देश्य प्रसंग है। यों ही धर्मकी साधना करे और वह कुछ न बन सके तो वह सारा श्रम ही व्यर्थ है। हम प्रभुकी जीतोड़ भक्ति करें, दूकान भी

नाथ भगवान प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। कितने ही वर्ष हो गये होंगे, कितने ही कोड़ाकोड़ी वर्ष हो गये होंगे, आजकी बात नहीं। जिस समय प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान उत्पन्न हुए थे उस समय से ही लोकमें उनका प्रताप चला आ रहा है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवका प्रताप— आदिम देवने लोगोंका कितना संरक्षण किया था? इससे ही अंदाज लगालो कि तबसे ही लोकमें यह प्रसिद्धि हुई है कि ईश्वर सृष्टिका करने वाला है। जब भोगभूमि थी तब लोग चैनसे रहते थे। जब उसकी समाप्ति हुई तो लोग बेचैन रहने लगे। उस समय असि मसि कृषि वाणिज्य आदि सब कर्मोंका प्रयोगात्मक शिक्षण ऋषभदेव भगवानने दिया था। १४ मनुवोंमें अंतिम मनु नाभि-राजा थे। लोग नाभि राजाके पास विनती करने आये तो उन्हें ऋषभदेव पास भेजा। कहा कि ऋषभदेवमें ही सर्व सामर्थ्य है। यह गृहस्थावस्था की बात है, वे जब संन्यासी न हुए थे तबकी बात है। तो प्रजारक्षार्थ वे सब उपदेश देने लगे, उन्होंने लोगोंके रक्षणका उपाय बताया। तबसे यह प्रसिद्धि चली कि भगवानने सृष्टि की। वे नाभि राजासे ही उत्पन्न हुए थे। तो नाभिसे कमल निकला। कमलमें एक देव उत्पन्न हुआ, उन्होने रक्षा की। ये सब अलंकारिक भाषामें है। कोई किसी रूपमें मानते हैं, कोई किसी रूपमें। किसी ने आदम बाबा मान लिया। आदमका अर्थ है आदिम इस महायुगके शुरूमें जो उत्पन्न हुए वह हैं तीर्थंकर आदिनाथ। उन्हें कोई आदमके रूपमें, कोई ब्रह्माके रूपमें, कोई सृष्टिकर्ताके रूपमें, यों अनेक रूपोंमें तभी से बात प्रचलित होती आयी है। ऐसे प्रभु अरहंत देव कैसे हुए हैं? इसका वर्णन चल रहा है।

अरहंत प्रभुके केवलज्ञानके दस अतिशयोंमें से सुभिक्षता व गगन-गमनका अतिशय— प्रभु अरहंत भगवान ३४ अतिशयोंके स्थान हैं, इसमें १० स्थानोंका वर्णन किया। अब १० स्थान केवलज्ञानके होते हैं। प्रभुके केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर क्या-क्या अतिशय प्रकट होते हैं? उनमें पहिला है १०० योजन चारों ओर सुभिक्षका होना। भगवान जहां विराजे हों उसके ४०० कोश चारों ओर सुभिक्षका होना। सब सुखी हों, अन्न आदिक अच्छा पैदा हो, ऐसे अतिशय स्वयमेव होते हैं। भला घरका मुखिया अच्छी तरह आबाद रहे तो फिर घरके लोगोंको दुःखका क्या काम है? ऐसे ही इस विश्वके प्रधान जहां विराज रहे हों, उनके चारों ओर बहुत दूर तक जीव दुःखी रहें, ऐसा क्यों हो? प्रभुका गमन आकाशमें होता है। हम आपकी भांति जमीन पर उनका गमन नहीं होता। लोग प्रभुको देखते

नाथ भगवान प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। कितने ही वर्ष हो गये होंगे, कितने ही कोड़ाकोड़ी वर्ष हो गये होंगे, आजकी बात नहीं। जिस समय प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान उत्पन्न हुए थे उस समय से ही लोकमें उनका प्रताप चला आ रहा है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवका प्रताप— आदिम देवने लोगोंका कितना संरक्षण किया था ? इससे ही अंदाज लगालो कि तबसे ही लोकमें यह प्रसिद्धि हुई है कि ईश्वर सृष्टिका करने वाला है। जब भोगभूमि थी तब लोग चैनसे रहते थे। जब उसकी समाप्ति हुई तो लोग बेचैन रहने लगे। उस समय असि मसि कृषि वाणिज्य आदि सब कर्मोंका प्रयोगात्मक शिक्षण ऋषभदेव भगवानने दिया था। १४ मनुवोंमें अंतिम मनु नाभि-राजा थे। लोग नाभि राजाके पास विनती करने आये तो उन्हें ऋषभदेव पास भेजा। कहा कि ऋषभदेवमें ही सर्व सामर्थ्य है। यह गृहस्थावस्था की बात है, वे जब संन्यासी न हुए थे तबकी बात है। तो प्रजारक्षार्थ वे सब उपदेश देने लगे, उन्होंने लोगोंके रक्षणका उपाय बताया। तबसे यह प्रसिद्धि चली कि भगवानने सृष्टि की। वे नाभि राजासे ही उत्पन्न हुए थे। तो नाभिसे कमल निकला। कमलमें एक देव उत्पन्न हुआ, उन्होंने रक्षा की। ये सब अलंकारिक भाषामें है। कोई किसी रूपमें मानते हैं, कोई किसी रूपमें। किसी ने आदम बाबा मान लिया। आदमका अर्थ है आदिम इस महायुगके शुरूमें जो उत्पन्न हुए वह हैं तीर्थंकर आदिनाथ। उन्हें कोई आदमके रूपमें, कोई ब्रह्माके रूपमें, कोई सृष्टिकर्ताके रूपमें, यों अनेक रूपोंमें तभी से बात प्रचलित होती आयी है। ऐसे प्रभु अरहंत देव कैसे हुए हैं ? इसका वर्णन चल रहा है।

अरहंत प्रभुके केवलज्ञानके दस अतिशयोंमें से सुभिक्षता व गगन-गमनका अतिशय— प्रभु अरहंत भगवान ३४ अतिशयोंके स्थान हैं, इसमें १० स्थानोंका वर्णन किया। अब १० स्थान केवलज्ञानके होते हैं। प्रभुके केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर क्या-क्या अतिशय प्रकट होते हैं ? उनमें पहिला है १०० योजन चारों ओर सुभिक्षका होना। भगवान जहां विराजे हों उसके ४०० कोश चारों ओर सुभिक्षका होना। सब सुखी हों, अन्न आदिक अच्छा पैदा हो, ऐसे अतिशय स्वयमेव होते हैं। भला घरका मुखिया अच्छी तरह आबाद रहे तो फिर घरके लोगोंको दुःखका क्या काम है ? ऐसे ही इस विश्वके प्रधान जहां विराज रहे हों, उनके चारों ओर बहुत दूर तक जीव दुःखी रहें, ऐसा क्यों हो? प्रभुका गमन आकाशमें होता है। हम आपकी भांति जमीन पर उनका गमन नहीं होता। लोग प्रभुको देखते

ग्रास लेकर आहार नहीं करते। कोई-कोई प्रभु अरहंत अवस्थामें ८ वर्ष कम १ करोड़ पूर्व तक रह सकता है याने करोड़ों वर्ष तक भगवान रहकर विहार करें और उन समस्त करोड़ों वर्षों तकभी वे कवलाहार नहीं करते। उनका ऐसा परमौदारक शरीर है कि शरीरवर्गणाएँ अपने आप इतनी पवित्र इतनी शक्तिमान उनके शरीरमें प्रवेश कर रही हैं कि कवलाहारकी आवश्यकता ही नहीं है। जैसे कोई आदमी खा नहीं सकता तो आजकल एक इन्जेक्शन चला है--गुलूकोज का इन्जेक्शन देते हैं। जो कवलाहार तो नहीं करते, मुखसे आहार नहीं करते, उनके यह इन्जेक्शन दे देने से दो चार दिन उसे भूख नहीं लगती। यह आहार तो यहांका है, तो समझ लीजिए कि जहां प्राकृतिक शुद्ध शरीरवर्गणायें आ रही हों, यों ही भगवान को करोड़ों वर्षों तक कवलाहारकी आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभुके समस्त विद्यावोंका ऐश्वर्य और प्रभुदेहमें नख, केशकी वृद्धि का अभाव— ये प्रभु समस्त विद्यावोंके स्वामी हैं। विद्या मायने जानना। कौनसी विद्या उन्हें जानने को रह गयी? सारे लोकके समस्त परिणमन जब ज्ञानमें आ चुके हैं तब और क्या रह गया है? वे सब विद्यावोंके ईश्वर हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् प्रभुदेहके नख और केश नहीं बढ़ते हैं। पहिले बढ़ते हैं किन्तु केवलज्ञान होनेके बादका यह अतिशय है। अब तो उनका परमौदारक शरीर है। क्या बताएँ जिस पुरुषका परिणाम निर्मल होता है और बहुत कालसे निर्मल होता चला आया है, उसको सुन्दर शरीर मिलता है, उसका स्वास्थ्य सुन्दर रहता है और शरीरमें दुर्गन्ध नहीं रहती, मलमें दुर्गन्ध नहीं रहती, ऐसी बहुतसी बातें तो निर्मल परिणाम होने वाले लोगोंके हुआ करती हैं। जो ऋद्धिधारी मनुष्य हैं उनके ऐसा अतिशय हो जाता है कि उनके मल, मूत्र, थूक, खकारका स्पर्श हो जाय अथवा उनकी छूटी हुई वायु जिनके लग जाय तो वे स्वस्थ हो जाते हैं, बीमारी हट जाती है। यह प्रताप उनके निर्मल परिणामका है। प्रभु अत्यन्त निर्दोष हैं, गुणोंके परमविकासके स्थान पवित्र पुरुष हैं, अरहंत देव हैं। उनके शरीरमें यह अतिशय भी हो जाता है कि नख और केश वृद्ध नहीं होते हैं।

अनिमिष नयन व निश्छाया देहका अतिशय-- प्रभुके आंखोंकी पलक नहीं गिरती। वह पलक न बहुत ऊँची उठी रहती है, न नीची रहती है किन्तु सहज बड़े विश्रामके साथ जैसे कभी आप बैठते हैं इसी प्रकारकी दृष्टि प्रभुकी रहती है। जल्दी-जल्दी कभी अपन लोगोंके कमजोरीके

ग्रास लेकर आहार नहीं करते। कोई-कोई प्रभु अरहंत अवस्थामें ८ वर्ष कम १ करोड़ पूर्व तक रह सकता है याने करोड़ों वर्ष तक भगवान रहकर विहार करें और उन समस्त करोड़ों वर्षों तकभी वे कवलाहार नहीं करते। उनका ऐसा परमौदारक शरीर है कि शरीरवर्गणाएँ अपने आप इतनी पवित्र इतनी शक्तिमान उनके शरीरमें प्रवेश कर रही हैं कि कवलाहारकी आवश्यकता ही नहीं है। जैसे कोई आदमी खा नहीं सकता तो आजकल एक इन्जेक्शन चला है--गुलूकोज का इन्जेक्शन देते हैं। जो कवलाहार तो नहीं करते, मुखसे आहार नहीं करते, उनके यह इन्जेक्शन दे देने से दो चार दिन उसे भूख नहीं लगती। यह आहार तो यहांका है, तो समझ लीजिए कि जहां प्राकृतिक शुद्ध शरीरवर्गणायें आ रही हों, यों ही भगवान को करोड़ों वर्षों तक कवलाहारकी आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभुके समस्त विद्यावोंका ऐश्वर्य और प्रभुदेहमें नख, केशकी वृद्धि का अभाव— ये प्रभु समस्त विद्यावोंके स्वामी हैं। विद्या मायने जानना। कौनसी विद्या उन्हें जानने को रह गयी ? सारे लोकके समस्त परिणमन जब ज्ञानमें आ चुके हैं तब और क्या रह गया है ? वे सब विद्यावोंके ईश्वर हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् प्रभुदेहके नख और केश नहीं बढ़ते हैं। पहिले बढ़ते हैं किन्तु केवलज्ञान होनेके बादका यह अतिशय है। अब तो उनका परमौदारक शरीर है। क्या बताएँ जिस पुरुषका परिणाम निर्मल होता है और बहुत कालसे निर्मल होता चला आया है, उसको सुन्दर शरीर मिलता है, उसका स्वास्थ्य सुन्दर रहता है और शरीरमें दुर्गन्ध नहीं रहती, मलमें दुर्गन्ध नहीं रहती, ऐसी बहुतसी बातें तो निर्मल परिणाम होने वाले लोगोंके हुआ करती हैं। जो ऋद्धिधारी मनुष्य हैं उनके ऐसा अतिशय हो जाता है कि उनके मल, मूत्र, थूक, खकारका स्पर्श हो जाय अथवा उनकी छूटी हुई वायु जिनके लग जाय तो वे स्वस्थ हो जाते हैं, बीमारी हट जाती है। यह प्रताप उनके निर्मल परिणामका है। प्रभु अत्यन्त निर्दोष हैं, गुणोंके परमविकासके स्थान पवित्र पुरुष हैं, अरहंत देव हैं। उनके शरीरमें यह अतिशय भी हो जाता है कि नख और केश वृद्ध नहीं होते हैं।

अनिमिष नयन व निश्छाया देहका अतिशय-- प्रभुके आंखोंकी पलक नहीं गिरती। वह पलक न बहुत ऊँची उठी रहती है, न नीची रहती है किन्तु सहज बड़े विश्रामके साथ जैसे कभी आप बैठते हैं इसी प्रकारकी दृष्टि प्रभुकी रहती है। जल्दी-जल्दी कभी अपन लोगोंके कमजोरीके

नाना प्रकारसे संगीत-गायन-नृत्य करते हुए भगवानके दर्शनको आने लगते हैं। मनुष्य लोग भी गान-तान करते हुए दर्शनको जाते हैं।

अर्हद्भक्तिका एक दृश्य—किसी भी समय जब कहीं भी खूब सुन्दर बाजे बज रहे हों, जैसे कि बैण्ड बाजा या बीन वगैरह बज रहे हों और यह पता न हो कि ये बाजा किसीकी बरातके हैं या पुत्रोत्पत्तिके समयके हैं और आप यह ध्यान लगाकर बैठ जायें कि प्रभुका यों समवशरण है, देव-इन्द्र-देवियां कैसे सुन्दर गीत और संगीत करते हुए आते हैं, लो ये आ रहे हैं। यह समवशरणमें विराजमान प्रभु हैं और कभी यह ख्याल आ जाए कि यह तो मनुष्य लोग बजा रहे हैं जो बाजे कानोंमें सुनाई दे रहे हैं तो उस समय आप समझ लेंगे कि जब मनुष्योंमें भी बड़ी कला है कि इतने सुन्दर गीत संगीत कर सकते हैं तो कलाओंके पुञ्ज देव-देवियां कितने मधुर नाचपूर्ण गीत-संगीत करते हुए आते होंगे? इतना सोचनेके बीच थोड़ा यह भी ध्यान लाओ—अहो! यह समस्त प्रताप प्रभुकी निर्दोषता का है, वीतरागता का है। उक्त प्रकारसे आप भक्तिमें प्रगतिसे घुसते चले जाते हैं और जब यह ख्याल आ जाय कि अहो! ऐसी निर्दोषताका स्वरूप तो मेरा भी है। क्यों इतना बंधन पड़ा है? तब आपके आंसू आपके स्वागत करने लगेंगे। उस समय हर्ष, विशाद, आनन्द, ध्यान और ज्ञान—इन सबका जो संमिश्रित भाव होगा, उस भावको कोई बता नहीं सकता।

दिव्य भाषा—प्रभु अरहंतदेवके इस प्रतापके कारण देवता लोग भी अतिशय किया करते हैं, उन अतिशयोंमें पहिला अतिशय है प्रभुकी अर्द्धमागधी भाषा। देवकृत अतिशयमें बताया है—सम्भव है कि आज-कलके लोग कुछ ऐसे यंत्रोंका आविष्कार कर रहे हैं, सुना है ऐसा कि बोलने वाला किसी भी भाषा में बोले; किन्तु दो चार भाषाओंके लोग भी अपनी अपनी भाषामें सुन सकेंगे। हम नहीं कह सकते कि इसमें कितना मनुष्यके प्रयोगका हाथ है और कितना यंत्रका हाथ है। यह तो यहां के बड़े वैज्ञानिक लोगोंकी बात है। देवोंके इन्द्रोंके विज्ञानका तो शुमार क्या है। क्या करते होंगे? अर्द्धमागधी भाषामें यों वाणीका प्रसार होता है कि वहां सुनने वाले लोग करीब मगध देशके होंगे या कोई हों, वे सब सुन लेते हैं। भला बतलावो कोई एक नेता भाषण करने आता है तो लोग कितना बड़ा मंडप बनाते हैं, कैसा सुहावना स्टेज लगा देते हैं, कितने ही लाउड-स्पीकर लगा देते हैं और कितना-कितना प्रबंध रखते हैं? भला जो इस विश्वका सर्वोपरि नेता है, उस नेताका जहां सहज भाषण हो रहा हो

नाना प्रकारसे संगीत-गायन-नृत्य करते हुए भगवानके दर्शनको आने लगते हैं। मनुष्य लोग भी गान-तान करते हुए दर्शनको जाते हैं।

अर्हद्भक्तिका एक दृश्य—किसी भी समय जब कहीं भी खूब सुन्दर बाजे बज रहे हों, जैसे कि बैण्ड बाजा या बीन वगैरह बज रहे हों और यह पता न हो कि ये बाजा किसीकी बरातके हैं या पुत्रोत्पत्तिके समयके हैं और आप यह ध्यान लगाकर बैठ जायें कि प्रभुका यों समवशरण है, देव-इन्द्र-देवियां कैसे सुन्दर गीत और संगीत करते हुए आते हैं, लो ये आ रहे हैं। यह समवशरणमें विराजमान प्रभु हैं और कभी यह ख्याल आ जाए कि यह तो मनुष्य लोग बजा रहे हैं जो बाजे कानोंमें सुनाई दे रहे हैं तो उस समय आप समझ लेंगे कि जब मनुष्योंमें भी बड़ी कला है कि इतने सुन्दर गीत संगीत कर सकते हैं तो कलाओंके पुञ्ज देव-देवियां कितने मधुर नाचपूर्ण गीत-संगीत करते हुए आते होंगे? इतना सोचनेके बीच थोड़ा यह भी ध्यान लाओ—अहो! यह समस्त प्रताप प्रभुकी निर्दोषता का है, वीतरागता का है। उक्त प्रकारसे आप भक्तिमें प्रगतिसे घुसते चले जाते हैं और जब यह ख्याल आ जाय कि अहो! ऐसी निर्दोषताका स्वरूप तो मेरा भी है। क्यों इतना बंधन पड़ा है? तब आपके आंसू आपके स्वागत करने लगेंगे। उस समय हर्ष, विशाद, आनन्द, ध्यान और ज्ञान—इन सबका जो संमिश्रित भाव होगा, उस भावको कोई बता नहीं सकता।

दिव्य भाषा—प्रभु अरहंतदेवके इस प्रतापके कारण देवता लोग भी अतिशय किया करते हैं, उन अतिशयोंमें पहिला अतिशय है प्रभुकी अर्द्धमागधी भाषा। देवकृत अतिशयमें बताया है—सम्भव है कि आजकलके लोग कुछ ऐसे यंत्रोंका आविष्कार कर रहे हैं, सुना है ऐसा कि बोलने वाला किसी भी भाषा में बोले; किन्तु दो चार भाषाओंके लोग भी अपनी अपनी भाषामें सुन सकेंगे। हम नहीं कह सकते कि इसमें कितना मनुष्यके प्रयोगका हाथ है और कितना यंत्रका हाथ है। यह तो यहां के बड़े वैज्ञानिक लोगोंकी बात है। देवोंके इन्द्रोंके विज्ञानका तो शुमार क्या है। क्या करते होंगे? अर्द्धमागधी भाषामें यों वाणीका प्रसार होता है कि वहां सुनने वाले लोग करीब मगध देशके होंगे या कोई हों, वे सब सुन लेते हैं। भला बतलावो कोई एक नेता भाषण करने आता है तो लोग कितना बड़ा मंडप बनाते हैं, कैसा सुहावना स्टेज लगा देते हैं, कितने ही लाउड-स्पीकर लगा देते हैं और कितना-कितना प्रबंध रखते हैं? भला जो इस विश्वका सर्वोपरि नेता है, उस नेताका जहां सहज भाषण हो रहा हो

भी सात कमल हैं। एक पंक्तिमें १५ कमलोंकी रचना होती है यह एक युक्ति है, भक्तिका परिचय है। जैसे यहां लोकमें किसी बड़े पुरुषके शुभागमनमें कपड़े बिछाते हैं, रेशमी व पट्ट बिछाते हैं, वैसे ही वे प्रभु आकाशमें गमन करते हैं तो देवता उनके चरणकमलोंके नीचे कमल रच देते हैं। जहां प्रभुके दोनों चरण विराजमान हों वहां एक समृद्धिकी रचना हो जाती है। ऐसा होनेके लिए प्रभुने क्या किया था कि इस भगवान आत्माके जो ज्ञान दर्शनरूप दो चरण हैं उनको उन्होंने अपने उपयोगमें विराजमान किया था, उस सहजज्ञान, सहजभावकी उन्होंने आराधना की थी, तब उन्हें अन्तरङ्ग अनुभवकी समृद्धि प्राप्त हुई। तब फिर उनके अतिशयोंमें बाह्यअतिशय यदि स्वर्णकमलोंकी रचना है तो कौनसे आश्चर्यकी बात है?

देवकृत अनेक अतिशय— देवगण आकाशमें ही जय-जयकी ध्वनि गूँज लगाते हैं, मन्द और सुगन्धित पवन चलाते हैं और सुन्दर सुगन्धित बहुत पतली जलकी बूँदें बरसाते हैं, सुगन्धित पुष्पोंकी वृष्टि होती है। तब वे विहार करते हैं। जिस दिशाकी ओर विहार करते हैं उस ओर देवगण ऐसा प्रबन्ध रखते हैं कि भूमिमें कोई कंटक न रहे, प्रभुकी भक्तिमें बाधा न पहुँचे। उस समय सारी सृष्टि हर्षमय हो जाती है। ऐसे भगवानके केवलज्ञान होने पर इतना अतिशय देवतागणोंके द्वारा किया जाता है।

तीर्थंकृद्बन्धका पुण्यप्रताप— यों ३४ अतिशयोंके निधान भगवान् अरहंतदेव होते हैं। भगवान् अरहंतदेव परमौदारक शरीर वाले हैं। उनके शरीरमें कोई अशुद्ध धातु उपधातु नहीं रहती है। उनके नेत्र शुद्ध विकसित रहते हैं, पलक नहीं गिरती है, महान् पुण्यके आश्रयभूत हैं। तीर्थंकर प्रकृतिसे बढ़कर और कोई प्रकृति नहीं होती है। भला बतलावो तीर्थंकर प्रकृति उदयमें तो आएगी १३ वें गुणस्थानमें, किन्तु तीर्थंकर प्रकृतिका चूंकि बन्ध किया है तो अन्य पुण्यप्रकृतियोंमें इतनी विशेषता आ जाती है कि उनके जन्मकालमें और जन्मकालसे भी ६ महिना पहिले देवगण खुशी मनाते हैं। बताते हैं कि तीर्थंकरके पिताके आंगनमें प्रतिदिन रत्नवृष्टि होती रहती है। ६ महिने पहिलेसे लेकर जब तक वे बाहर न आ जायें, जन्म न हो जाए अर्थात् १५ महीने तक रत्नवृष्टि होती है।

तीर्थंकृद्बन्धका नरकगतिमें भी प्रताप— कोई जीव नरकगतिसे आकर यदि तीर्थंकर बनता है तो जब उस नारकीकी आयु ६ महीने शेष रहती है तो उस नरकमें एक विक्रियामयी कोट रचा जाता है और वहां पर वे नारकी सुरक्षित, सर्वदुःखोंसे रहित, कोई पीड़ा न दे सके— ऐसी स्थितिमें रहते हैं। नरकगतिमें निरन्तर दुःख हैं, किंतु जहां तीर्थंकर होते

भी सात कमल हैं। एक पंक्तिमें १५ कमलोंकी रचना होती है यह एक युक्ति है, भक्तिका परिचय है। जैसे यहां लोकमें किसी बड़े पुरुषके शुभागमनमें कपड़े बिछाते हैं, रेशमी वपड़ा बिछाते हैं, वैसे ही वे प्रभु आकाशमें गमन करते हैं तो देवता उनके चरणकमलोंके नीचे कमल रच देते हैं। जहां प्रभु के दोनों चरण विराजमान हों वहां एक समृद्धिकी रचना हो जाती है। ऐसा होनेके लिए प्रभुने क्या किया था कि इस भगवान आत्माके जो ज्ञान दर्शनरूप दो चरण हैं उनको उन्होंने अपने उपयोगमें विराजमान किया था, उस सहजज्ञान, सहजभावकी उन्होंने आराधना की थी, तब उन्हें अन्तरङ्ग अनुभवकी समृद्धि प्राप्त हुई। तब फिर उनके अतिशयोंमें बाह्यअतिशय यदि स्वर्णकमलोंकी रचना है तो कौनसे आश्चर्यकी बात है?

देवकृत अनेक अतिशय— देवगण आकाशमें ही जय-जयकी ध्वनि गूँज लगाते हैं, मन्द और सुगन्धित पवन चलाते हैं और सुन्दर सुगन्धित बहुत पतली जलकी बूँदें बरसाते हैं, सुगन्धित पुष्पोंकी वृष्टि होती है। तब वे विहार करते हैं। जिस दिशाकी ओर विहार करते हैं उस ओर देवगण ऐसा प्रबन्ध रखते हैं कि भूमिमें कोई कंटक न रहे, प्रभुकी भक्तिमें बाधा न पहुँचे। उस समय सारी सृष्टि हर्षमय हो जाती है। ऐसे भगवान्के केवलज्ञान होने पर इतना अतिशय देवतागणोंके द्वारा किया जाता है।

तीर्थकृद्बन्धका पुण्यप्रताप— यों ३४ अतिशयोंके निधान भगवान् अरहंतदेव होते हैं। भगवान् अरहंतदेव परमौदारक शरीर वाले हैं। उनके शरीरमें कोई अशुद्ध धातु उपधातु नहीं रहती है। उनके नेत्र शुद्ध विकसित रहते हैं, पलक नहीं गिरती है, महान् पुण्यके आश्रयभूत हैं। तीर्थंकर प्रकृतिसे बढ़कर और कोई प्रकृति नहीं होती है। भला बतलावो तीर्थंकर प्रकृति उदयमें तो आएगी १३ वें गुणस्थानमें, किन्तु तीर्थंकर प्रकृतिका चूंकि बन्ध किया है तो अन्य पुण्यप्रकृतियोंमें इतनी विशेषता आ जाती है कि उनके जन्मकालमें और जन्मकालसे भी ६ महिना पहिले देवगण खुशी मनाते हैं। बताते हैं कि तीर्थंकरके पिताके आंगनमें प्रतिदिन रत्नवृष्टि होती रहती है। ६ महिने पहिलेसे लेकर जब तक वे बाहर न आ जायें, जन्म न हो जाए अर्थात् १५ महीने तक रत्नवृष्टि होती है।

तीर्थकृद्बन्धका नरकगतिमें भी प्रताप — कोई जीव नरकगतिसे आकर यदि तीर्थंकर बनता है तो जब उस नारकीकी आयु ६ महीने शेष रहती है तो उस नरकमें एक विक्रियामयी कोट रचा जाता है और वहां पर वे नारकी सुरक्षित, सर्वदुःखोंसे रहित, कोई पीड़ा न दे सके— ऐसी स्थितिमें रहते हैं। नरकगतिमें निरन्तर दुःख हैं, किंतु जहां तीर्थंकर होते

प्रभुभक्तिसे प्रभुताकी प्राप्ति— इस आनन्दमयस्वरूपका विकास प्रभुके हुआ है, सो वे सर्वप्राणियोंके आनन्दके कारण हैं। कोई सरागभक्ति करके, पुण्यबन्ध करके लौकिक सुख प्राप्त कर लेता है तो कोई शुद्ध भक्ति करके अपना मोक्षमार्ग बना लेता है। प्रभु अरहंतदेव सब जीवोंके सुखके कारणभूत हैं। संसारका संताप प्रभुके नहीं रहा, जिसके पास जो चीज है, वही चीज उसकी भक्ति और संगतिसेवासे मिला करती है। किसी ज्ञानवानकी सेवा करके आप धन कहांसे पा लेंगे ? धन पाया जा सकता है। किसी धनवानकी सेवा करके ज्ञान कहांसे पाया जा सकता है ? कुछ धन पा लोगे। प्रभु अरहंतदेव संसारके संतापसे दूर हैं और सहज अनन्त-आनन्दमय हैं। उनकी भक्तिके प्रतापसे जीव आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी प्रभुभक्तिमें यह विशेषता है कि धन प्रभु नहीं देते, किन्तु जो प्रभुकी भक्ति करता है, उसके ऐसा पुण्यका बन्ध होता है कि मनचाहा लौकिक सुख उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। ये लौकिक सुखके भी देनहार इस तरहसे हुए।

प्रभुकी विशेषतायें— इनमें प्रभुत्वता तो संसारसंताप हरनेकी है, इसी कारण ये सकल परमात्मा हरि कहलाते हैं। जो पापोंको हरे, उसे हरि कहते हैं। यह सकल परमात्मा हर कहलाता है। जो सर्वभाव-मलको दूर करे, उसे हर कहते हैं। यह ही भगवान शिवस्वरूप है। शिवका अर्थ है आनन्द, कल्याण। यह कल्याणमय है अर्थात् शुद्ध सृष्टियोंकी रचना वाला है। अतएव यही ब्रह्मा है, अपने सुगम स्वाधीन ऐश्वर्यका स्वामी है, इस कारण ईश्वर है और स्वयं ही यह राम है। जिसके स्वरूपमें योगीजन रमण करें, उसे राम कहते हैं। यह ज्ञान लोकालोकमें सर्वत्र व्यापक है, इस कारण यह विष्णु कहलाता है। शुद्ध ज्ञानमय है।

जयवाद— ऐसे प्रभु अरहंतदेव भक्तजनोंके आदर्शरूप हैं, संकटोंके हरने वाले हैं। जिनके चरणकमलमें बड़े बड़े राजा-महाराजा शीश नवाते हैं—ऐसे कषायरहित अपगतवेद शुद्ध सम्यक्त्वके धारी अरहंतदेव जयवन्त हों। भैया ! प्रभु तो जयवन्त हैं ही, किन्तु उनके स्मरणके प्रसादके धर्ममार्गमें लगे हुए हम आप भी जय प्राप्त करें—ऐसी भक्तके अन्तरमें भावना है। भक्तकी इस भावनाके कारण भक्त स्वयं उनका जयवाद करता है अथवा यों कहो कि भगवान् अरहंतदेवकी जो गद्दी है अर्थात् धर्मप्रचार, धर्मप्रसार। वह धर्मप्रसार जयवन्त हो, इसके लिए भगवान्की जय बोलते हैं।

प्रभुकी जीवन्मुक्तता— प्रभु अरहंतदेवको हम संसारी जीव तो कह नहीं सकते। जो निर्दोष हो गये, केवलज्ञानी हो गए—ऐसे प्रभुके सम्बन्धमें

प्रभुभक्तिसे प्रभुताकी प्राप्ति— इस आनन्दमयस्वरूपका विकास प्रभु के हुआ है, सो वे सबप्राणियोंके आनन्दके कारण हैं। कोई सरागभक्ति करके, पुण्यबन्ध करके लौकिक सुख प्राप्त कर लेता है तो कोई शुद्ध भक्ति करके अपना मोक्षमार्ग बना लेता है। प्रभु अरहंतदेव सब जीवोंके सुखके कारणभूत हैं। संसारका संताप प्रभुके नहीं रहा, जिसके पास जो चीज है, वही चीज उसकी भक्ति और संगतिसेवासे मिला करती है। किसी ज्ञानवानकी सेवा करके आप धन कहांसे पा लेंगे ? धन पाया जा सकता है। किसी धनवानकी सेवा करके ज्ञान कहांसे पाया जा सकता है ? कुछ धन पा लोगे। प्रभु अरहंतदेव संसारके संतापसे दूर हैं और सहज अनन्त-आनन्दमय हैं। उनकी भक्तिके प्रतापसे जीव आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी प्रभुभक्तिमें यह विशेषता है कि धन प्रभु नहीं देते, किन्तु जो प्रभुकी भक्ति करता है, उसके ऐसा पुण्यका बन्ध होता है कि मनचाहा लौकिक सुख उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। ये लौकिक सुखके भी देनहार इस तरहसे हुए।

प्रभुकी विशेषतायें— इनमें प्रभुता तो संसारसंताप हरनेकी है, इसी कारण ये सकल परमात्मा हरि कहलाते हैं। जो पापोंको हरे, उसे हरि कहते हैं। यह सकल परमात्मा हर कहलाता है। जो सर्वभाव-मलको दूर करे, उसे हर कहते हैं। यह ही भगवान शिवस्वरूप है। शिवका अर्थ है आनन्द, कल्याण। यह कल्याणमय है अर्थात् शुद्ध सृष्टियोंकी रचना वाला है। अतएव यही ब्रह्मा है, अपने सुगम स्वाधीन ऐश्वर्यका स्वामी है, इस कारण ईश्वर है और स्वयं ही यह राम है। जिसके स्वरूपमें योगी-जन रमण करें, उसे राम कहते हैं। यह ज्ञान लोकालोकमें सर्वत्र व्यापक है, इस कारण यह विष्णु कहलाता है। शुद्ध ज्ञानमय है।

जयवाद— ऐसे प्रभु अरहंतदेव भक्तजनोंके आदर्शरूप हैं, संकटोंके हरने वाले हैं। जिनके चरणकमलमें बड़े बड़े राजा-महाराजा शीश नवाते हैं—ऐसे कषायरहित अपगतवेद शुद्ध सम्यक्त्वके धारी अरहंतदेव जयवन्त हों। भैया ! प्रभु तो जयवन्त हैं ही, किन्तु उनके स्मरणके प्रसादके धर्ममार्ग में लगे हुए हम आप भी जय प्राप्त करें—ऐसी भक्तके अन्तरमें भावना है। भक्तकी इस भावनाके कारण भक्त स्वयं उनका जयवाद करता है अथवा यों कहो कि भगवान् अरहंतदेवकी जो गद्दी है अर्थात् धर्मप्रचार, धर्मप्रसार। वह धर्मप्रसार जयवन्त हो, इसके लिए भगवान्की जय बोलते हैं।

प्रभुकी जीवन्मुक्तता— प्रभु अरहंतदेवको हम संसारी जीव तो कह नहीं सकते। जो निर्दोष हो गये, केवलज्ञानी हो गए—ऐसे प्रभुके सम्बन्धमें

प्रभुभक्तिसे प्रभुताकी प्राप्ति— इस आनन्दमयस्वरूपका विकास प्रभु के हुआ है, सो वे सर्वप्राणियोंके आनन्दके कारण हैं। कोई सरागभक्ति करके, पुण्यबन्ध करके लौकिक सुख प्राप्त कर लेता है तो कोई शुद्ध भक्ति करके अपना मोक्षमार्ग बना लेता है। प्रभु अरहंतदेव सब जीवोंके सुखके कारणभूत हैं। संसारका संताप प्रभुके नहीं रहा, जिसके पास जो चीज है, वही चीज उसकी भक्ति और संगतिसेवासे मिला करती है। किसी ज्ञान-वानकी सेवा करके आप धन कहांसे पा लेंगे ? धन पाया जा सकता है। किसी धनवानकी सेवा करके ज्ञान कहांसे पाया जा सकता है ? कुछ धन पा लोगे। प्रभु अरहंतदेव संसारके संतापसे दूर हैं और सहज अनन्त-आनन्दमय हैं। उनकी भक्तिके प्रतापसे जीव आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी प्रभुभक्तिमें यह विशेषता है कि धन प्रभु नहीं देते, किन्तु जो प्रभुकी भक्ति करता है, उसके ऐसा पुण्यका बन्ध होता है कि मनचाहा लौकिक सुख उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। ये लौकिक सुखके भी देनहार इस तरहसे हुए।

प्रभुकी विशेषतायें— इनमें प्रमुखता तो संसारसंताप हरनेकी है, इसी कारण ये सकल परमात्मा हरि कहलाते हैं। जो पापोंको हरे, उसे हरि कहते हैं। यह सकल परमात्मा हर कहलाता है। जो सर्वभाव-मलको दूर करे, उसे हर कहते हैं। यह ही भगवान् शिवस्वरूप हैं। शिवका अर्थ है आनन्द, कल्याण। यह कल्याणमय है अर्थात् शुद्ध सृष्टियोंकी रचना वाला है। अतएव यही ब्रह्मा है, अपने सुगम स्वाधीन ऐश्वर्यका स्वामी है, इस कारण ईश्वर है और स्वयं ही यह राम है। जिसके स्वरूपमें योगी-जन स्मरण करें, उसे राम कहते हैं। यह ज्ञान लोकालोकमें सर्वत्र व्यापक है, इस कारण यह विष्णु कहलाता है। बुद्ध ज्ञानमय है।

जयवाद— ऐसे प्रभु अरहंतदेव भक्तजनोंके आदर्शरूप हैं, संकटोंके हरने वाले हैं। जिनके चरणकमलमें बड़े बड़े राजा-महाराजा शीश नवाते हैं—ऐसे कषायरहित अपगतवेद शुद्ध सम्यक्त्वके धारी अरहंतदेव जयवन्त हों। भैया ! प्रभु तो जयवन्त हैं हीं, किन्तु उनके स्मरणके प्रसादके धर्ममार्ग में लगे हुए हम आप भी जय प्राप्त करें—ऐसी भक्तके अन्तरमें भावना है। भक्तकी इस भावनाके कारण भक्त स्वयं उनका जयवाद करता है अथवा यों कहो कि भगवान् अरहंतदेवकी जो गद्दी है अर्थात् धर्मप्रचार, धर्मप्रसार। वह धर्मप्रसार जयवन्त हो, इसके लिए भगवान्की जय बोलते हैं।

प्रभुकी जीवन्मुक्तता— प्रभु अरहंतदेवको हम संसारी जीव तो कह नहीं सकते। जो निर्दोष हो गये, केवलज्ञानी हो गए—ऐसे प्रभुके सम्बन्धमें

प्रभुभक्तिसे प्रभुताकी प्राप्ति— इस आनन्दमयस्वरूपका विकास प्रभुके हुआ है, सो वे सर्वप्राणियोंके आनन्दके कारण हैं। कोई सरागभक्ति करके, पुण्यबन्ध करके लौकिक सुख प्राप्त कर लेता है तो कोई शुद्ध भक्ति करके अपना मोक्षमार्ग बना लेता है। प्रभु अरहंतदेव सब जीवोंके सुखके कारणभूत हैं। संसारका संताप प्रभुके नहीं रहा, जिसके पास जो चीज है, वही चीज उसकी भक्ति और संगतिसेवासे मिला करती है। किसी ज्ञानवानकी सेवा करके आप धन कहांसे पा लेंगे ? धन पाया जा सकता है। किसी धनवानकी सेवा करके ज्ञान कहांसे पाया जा सकता है ? कुछ धन पा लोगे। प्रभु अरहंतदेव संसारके संतापसे दूर हैं और सहज अनन्त-आनन्दमय हैं। उनकी भक्तिके प्रतापसे जीव आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी प्रभुभक्तिमें यह विशेषता है कि धन प्रभु नहीं देते, किन्तु जो प्रभुकी भक्ति करता है, उसके ऐसा पुण्यका बन्ध होता है कि मनचाहा लौकिक सुख उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। ये लौकिक सुखके भी देनहार इस तरहसे हुए।

प्रभुकी विशेषतायें— इनमें प्रमुखता तो संसारसंताप हरनेकी है, इसी कारण ये सकल परमात्मा हरि कहलाते हैं। जो पापोंको हरे, उसे हरि कहते हैं। यह सकल परमात्मा हर कहलाता है। जो सर्वभाव-मलको दूर करे, उसे हर कहते हैं। यह ही भगवान् शिवस्वरूप हैं। शिवका अर्थ है आनन्द, कल्याण। यह कल्याणमय है अर्थात् शुद्ध सृष्टियोंकी रचना वाला है। अतएव यही ब्रह्मा है, अपने सुगम स्वाधीन ऐश्वर्यका स्वामी है, इस कारण ईश्वर है और स्वयं ही यह राम है। जिसके स्वरूपमें योगी-जन रमण करें, उसे राम कहते हैं। यह ज्ञान लोकालोकमें सर्वत्र व्यापक है, इस कारण यह विष्णु कहलाता है। शुद्ध ज्ञानमय है।

जयवाद— ऐसे प्रभु अरहंतदेव भक्तजनोंके आदर्शरूप हैं, संकटोंके हरने वाले हैं। जिनके चरणकमलमें बड़े बड़े राजा-महाराजा शीश नवाते हैं—ऐसे कषायरहित अपगतवेद शुद्ध सम्यक्त्वके धारी अरहंतदेव जयवन्त हों। भैया ! प्रभु तो जयवन्त हैं हीं, किन्तु उनके स्मरणके प्रसादके धर्ममार्गमें लगे हुए हम आप भी जय प्राप्त करें—ऐसी भक्तके अन्तरमें भावना है। भक्तकी इस भावनाके कारण भक्त स्वयं उनका जयवाद करता है अथवा यों कहो कि भगवान् अरहंतदेवकी जो गद्दी है अर्थात् धर्मप्रचार, धर्मप्रसार वह धर्मप्रसार जयवन्त हो, इसके लिए भगवान्‌की जय बोलते हैं।

प्रभुकी जीवन्मुक्तता— प्रभु अरहंतदेवको हम संसारी जीव तो कह नहीं सकते। जो निर्दोष हो गये, केवलज्ञानी हो गए—ऐसे प्रभुके सम्बन्धमें

सहजस्वभावका परिचय होने के कारण अपने आपमें अपने सहजस्वभाव का परिचय होता है। जिसे आनन्दस्वरूप अपने आत्मतत्त्वका परिचय हुआ है उसे संसारमें कोई बाधा नहीं रही। यह है एक महान वैभव। यथार्थज्ञानके समान वैभव लोकमें अन्य कुछ नहीं है। बाह्य पदार्थ जो मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं, ये मुझमें क्या करामात कर सकते हैं? मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूं। मोह छोड़ो, रागद्वेष हटावो और अपने शुद्ध आनन्दका अनुभव करलो। मिश्रीकी डली हाथमें है। किसी से पूछनेकी क्या आवश्यकता है कि यह कितनी मीठी होती है? अरे स्वयं खाकर समझलो। यहां तो फिर भी अन्तर है। मुंह दूर है, हाथ दूर है, डली भिन्न पदार्थ है, किन्तु आत्मीय आनन्दके अनुभवके लिए कोई भी अन्तर नहीं है। यह अनुभव करने वाला स्वयं है, यह आनन्द स्वयं है, और आनन्दके अनुभवकी पद्धतिसे अनुभव होता है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभुकी भक्तिसे अपने ज्ञानस्वरूपका विकास होता है, ऐसे हेतुभूत प्रभुकी भक्ति हम सब का कल्याण करती है।

णट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

सिद्धपरमेष्ठीका प्रकरण— इस गाथामें सिद्ध परमेष्ठियोंका स्वरूप कहा गया है। यह सिद्ध भगवान सिद्धकी परम्परासे निमित्तभूत भी हैं, यों कि जो निकट भव्य पुरुष सिद्धपरमेष्ठीके गुणविकासका ध्यान करते हैं और उस गुणविकासके स्मरणके माध्यमसे कारणपरमात्मतत्त्वकी उपासना करते हैं वे पुरुष निकट कालमें सिद्ध हो जाते हैं। यों सिद्धकी परम्परया हेतुभूत भगवान सिद्ध परमेष्ठियोंका इसमें स्वरूप कहा गया है।

सकलकर्म विप्रमोक्ष— प्रभु सिद्ध भगवान अष्टकर्मोंके बन्धनसे रहित हैं। चारघातिया कर्मोंके विनाशसे अरहंत अवस्था होती है और फिर आयुकर्मके अंतिम समयमें अघातिया कर्म एक समय विनष्ट होते हैं। यों ८ कर्मोंके बन्धनसे रहित सिद्धपरमेष्ठी होते हैं। कर्मोंके विनाशका कारण है शुक्ल ध्यान। यह शुक्लध्यान ८ वें गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक है। ८ वें गुणस्थानके पृथक्त्ववितर्कविचार शुक्लध्यानसे कर्मोंके क्षपणकी तैयारी होती है और नवम गुणस्थानवर्ती साधुवोंके इस शुक्ल ध्यानके बलसे प्रकृतियोंका क्षय प्रारम्भ हो जाता है। हां सम्यक्त्व घातिया ७ प्रकारका क्षय अवश्य पहिले धर्मध्यानके प्रतापसे और आत्मावलम्बनके प्रसादसे हुआ था। १० वें गुणस्थानमें भी पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यानके कारण संज्वलन लोभका विनाश होता है और १२ वें गुणस्थानके

सहजस्वभावका परिचय होने के कारण अपने आपमें अपने सहजस्वभाव का परिचय होता है। जिसे आनन्दस्वरूप अपने आत्मतत्त्वका परिचय हुआ है उसे संसारमें कोई बाधा नहीं रही। यह है एक महान वैभव। यथार्थज्ञानके समान वैभव लोकमें अन्य कुछ नहीं है। बाह्य पदार्थ जो मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं, ये मुझमें क्या करामात कर सकते हैं? मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूं। मोह छोड़ो, रागद्वेष हटावो और अपने शुद्ध आनन्दका अनुभव करलो। मिश्रीकी डली हाथमें है। किसी से पूछनेकी क्या आवश्यकता है कि यह कितनी मीठी होती है? अरे स्वयं खाकर समझलो। यहां तो फिर भी अन्तर है। मुँह दूर है, हाथ दूर है, डली भिन्न पदार्थ है, किन्तु आत्मीय आनन्दके अनुभवके लिए कोई भी अन्तर नहीं है। यह अनुभव करने वाला स्वयं है, यह आनन्द स्वयं है, और आनन्दके अनुभवकी पद्धतिसे अनुभव होता है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभुकी भक्तिसे अपने ज्ञानस्वरूपका विकास होता है, ऐसे हेतुभूत प्रभुकी भक्ति हम सब का कल्याण करती है।

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

सिद्धपरमेष्ठीका प्रकरण— इस गाथामें सिद्ध परमेष्ठियोंका स्वरूप कहा गया है। यह सिद्ध भगवान सिद्धकी परम्परासे निमित्तभूत भी हैं, यों कि जो निकट भव्य पुरुष सिद्धपरमेष्ठीके गुणविकासका ध्यान करते हैं और उस गुणविकासके स्मरणके माध्यमसे कारणपरमात्मतत्त्वकी उपासना करते हैं वे पुरुष निकट कालमें सिद्ध हो जाते हैं। यों सिद्धकी परम्परया हेतुभूत भगवान सिद्ध परमेष्ठियोंका इसमें स्वरूप कहा गया है।

सकलकर्म विप्रमोक्ष— प्रभु सिद्ध भगवान अष्टकर्मोंके बन्धनसे रहित हैं। चारघातिया कर्मोंके विनाशसे अरहंत अवस्था होती है और फिर आयुकर्मके अंतिम समयमें अघातिया कर्म एक समय विनष्ट होते हैं। यों ८ कर्मोंके बन्धनसे रहित सिद्धपरमेष्ठी होते हैं। कर्मोंके विनाशका कारण है शुक्ल ध्यान। यह शुक्लध्यान ८ वें गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक है। ८ वें गुणस्थानके पृथक्त्ववितर्कविचार शुक्लध्यानसे कर्मोंके क्षपणाकी तैयारी होती है और नवम गुणस्थानवर्ती साधुवोंके उस शुक्ल ध्यानके बलसे प्रकृतियोंका क्षय प्रारम्भ हो जाता है। हां सम्यक्त्व घातिया ७ प्रकारका क्षय अवश्य पहिले धर्मध्यानके प्रतापसे और आत्मावलम्बनके प्रसादसे हुआ था। १० वें गुणस्थानमें भी पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यानके कारण संज्वलन लोभका विनाश होता है और १२ वें गुणस्थानके

की ओर इतना आकर्षण है, इतनी तेज धुनि है कि एक पदार्थके ज्ञानको छोड़कर दूसरे पदार्थको जानने चलते हैं तो बीचमें आत्मका स्पर्श हो जाता है, पर इस मोही जीवको अपने जौहरका पता नहीं हो पाता है कि में कुछ आत्माके निकट भी आया था। उस समय जैसे वह आत्माके निकट आता है वैसा पता जिसे पड़ जाय, ओह यह मैं हूं तो उसको सम्यग्दर्शन हो जाता है।

छद्मस्थोंके दर्शन ज्ञानका क्रमशः उपयोग— यह दर्शन हम आप छद्मस्थ जीवोंके क्रमसे होता है। दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ, फिर दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ। दर्शनमार्गणा ४ बताये गए हैं उससे मतलब है दर्शनका और ज्ञानमार्गणा जो ८ बताये गये हैं उससे मतलब है ज्ञानका। दर्शन और ज्ञान एक साथ हम आपके उपयोगमें नहीं होते हैं। ये दोनों गुण हैं और दोनों गुणोंका परिणमन निरन्तर चलता है। पर छद्मस्थ अवस्थाके कारण केवलज्ञान होनेसे पहिले अज्ञान अवस्थाके कारण यह दर्शन और ज्ञानका उपयोग एक साथ नहीं होता है। यह ही दर्शन जब दर्शनावरण कर्मका क्षय हो जाता है तो निरन्तर विकसित बना रहता है अर्थात् सिद्ध भगवानको तीनलोक तीनकालके पदार्थोंका भी ज्ञान निरन्तर चल रहा है और अपने आत्माका दर्शन भी निरन्तर चल रहा है, यों सिद्ध प्रभुमें केवल दर्शन नामक महागुण है।

प्रभुका केवलज्ञान— केवलज्ञान नामक महागुण भी सिद्ध प्रभुमें है। गुण पहिले अरहंत अवस्थामें भी प्रकट हो चुके हैं। केवलज्ञानके बल से सिद्ध भगवान तीनलोक तीनकालके समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। कैसा उनके अलौकिक विलक्षण ज्ञान है, किस प्रकारसे प्रभु जाना करते हैं? इसका मर्म अज्ञानीको तो विदित हो ही नहीं पाता, पर ज्ञानी जीवके भी वचनके अगोचर है। जैसे हम खट्टा मीठा स्वाद जानते हैं अथवा काला पीला रूप जानते हैं, कोई ऐसा ही स्पर्श जानते हैं या ऐसे रूप रस गंध स्पर्श को जानना केवल प्रभुके नहीं बना रहता है। यह जानना तो विकृत ज्ञान है। खट्टा मीठा परखना यह सब जैसे हम जानते हैं यह सब विकृत ज्ञान है और ऐसा ज्ञान इन्द्रियोंके माध्यमसे हो पाता है। जहां इन्द्रियां नहीं हैं, केवल आत्मा ही आत्मा है, ज्ञानस्वरूप प्रकट हुआ है वहां वह केवलज्ञान किस प्रकार जान रहा होगा? यह वचनके अगोचर है और देखिये हम कभी रूप जानते हैं, कभी रस जानते हैं, कभी कुछ जानते हैं और वे प्रभु सर्वपदार्थोंको एक साथ जानते हैं तो उनका जानना किस रूपका होता होगा? इसको वचन नहीं पकड़ सकते।

की ओर इतना आकर्षण है, इतनी तेज धुनि है कि एक पदार्थके ज्ञानको छोड़कर दूसरे पदार्थको जानने चलते हैं तो बीचमें आत्माका स्पर्श हो जाता है, पर इस मोही जीवको अपने जौहरका पता नहीं हो पाता है कि मैं कुछ आत्माके निकट भी आया था। उस समय जैसे वह आत्माके निकट आता है वैसा पता जिसे पड़ जाय, ओह यह मैं हूं तो उसको सम्यग्दर्शन हो जाता है।

छद्मस्थोंके दर्शन ज्ञानका क्रमशः उपयोग— यह दर्शन हम आप छद्मस्थ जीवोंके क्रमसे होता है। दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ, फिर दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ। दर्शनमार्गणा ४ बताये गए हैं उससे मतलब है दर्शनका और ज्ञानमार्गणा जो ८ बताये गये हैं उससे मतलब है ज्ञानका। दर्शन और ज्ञान एक साथ हम आपके उपयोगमें नहीं होते हैं। ये दोनों गुण हैं और दोनों गुणोंका परिणमन निरन्तर चलता है। पर छद्मस्थ अवस्थाके कारण केवलज्ञान होनेसे पहिले अज्ञान अवस्थाके कारण यह दर्शन और ज्ञानका उपयोग एक साथ नहीं होता है। यह ही दर्शन जब दर्शनावरण कर्मका क्षय हो जाता है तो निरन्तर विकसित बना रहता है अर्थात् सिद्ध भगवानको तीनलोक तीनकालके पदार्थोंका भी ज्ञान निरन्तर चल रहा है और अपने आत्माका दर्शन भी निरन्तर चल रहा है, यों सिद्ध प्रभुमें केवल दर्शन नामक महागुण है।

प्रभुका केवलज्ञान— केवलज्ञान नामक महागुण भी सिद्ध प्रभुमें है। गुण पहिले अरहंत अवस्थामें भी प्रकट हो चुके हैं। केवलज्ञानके बल से सिद्ध भगवान तीनलोक तीनकालके समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। कैसा उनके अलौकिक विलक्षण ज्ञान है, किस प्रकारसे प्रभु जाना करते हैं? इसका मर्म अज्ञानीको तो विदित हो ही नहीं पाता, पर ज्ञानी जीवके भी वचनके अगोचर है। जैसे हम खट्टा मीठा स्वाद जानते हैं अथवा काला पीला रूप जानते हैं, कोई ऐसा ही स्पर्श जानते हैं या ऐसे रूप रस गंध स्पर्श को जानना केवल प्रभुके नहीं बना रहता है। यह जानना तो विकृत ज्ञान है। खट्टा मीठा परखना यह सब जैसे हम जानते हैं यह सब विकृत ज्ञान है और ऐसा ज्ञान इन्द्रियोंके माध्यमसे हो पाता है। जहां इन्द्रियां नहीं हैं, केवल आत्मा ही आत्मा है, ज्ञानस्वरूप प्रकट हुआ है वहां वह केवलज्ञान किस प्रकार जान रहा होगा? यह वचनके अगोचर है और देखिये हम कभी रूप जानते हैं, कभी रस जानते हैं, कभी कुछ जानते हैं और वे प्रभु सर्वपदार्थोंको एक साथ जानते हैं तो उनका जानना किस रूपका होता होगा? इसको वचन नहीं पकड़ सकते।

एक अनेककी नहीं संख्या नमो सिद्ध निरञ्जनो ॥ कितना ऊँचा भाव है ? वे सिद्ध भगवान् कैसे हैं जो एक मांहि एक राजे—एक सिद्धमें एक सिद्ध है और एक सिद्धमें अनेक सिद्ध हैं। अरे वहां एक अनेककी कुछ संख्या ही नहीं है। तीन बातें कही गई हैं सिद्धके स्वरूपके स्मरणमें। उन तीनों का अर्थ सुनिये।

सिद्ध भगवंतोंके सम्बन्धमें एकमें एक व एकमें अनेक राजनेका रहस्य—एकमें एक राजे अर्थात् जो एक सिद्ध आत्मा है उस सिद्ध आत्मा में वह ही आत्मा है और वह अपने ही गुणपर्यायसे तन्मय है। भले ही उस स्थान पर अनेक सिद्ध विराज रहे हैं परन्तु प्रत्येक सिद्ध प्रभुका ज्ञान उनके जुदा-जुदा है। उनका आनन्द उनका अपने आपमें है, एक प्रभुका परिणमन किसी अन्य प्रभुके परिणमन रूप नहीं बन जाता है। जैसे यहां ही हवा भी है, शब्द भी है और भी अनेक पदार्थ हैं, फिर भी वे सब केवल अपने आपमें अपना स्वरूप रखते हैं। ऐसे ही सिद्ध भगवान अपने आपमें अपना ही स्वरूप रखते हैं। इस कारण सिद्ध एकमें एक है, एकमें अनेक नहीं है। द्रव्यका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं। अपने ही अस्तित्वको लिए हुए है। एकमें एक ही है अनेक नहीं है। यह अर्थ हुआ एकमें एक राजेका।

वह प्रभु एकमें अनेक है।—जो सिद्ध इस स्थानसे मुक्त हुआ है वह इस स्थानसे फिर ठीक सीधमें लोकके अंतमें विराजमान है और इसी स्थानसे क्रमसे हजारों मनुष्य मुक्त हुए हों तो भी इस ही सीधमें वे ही विराजमान हो जाते हैं। ऐसे अनन्त सिद्ध होते हैं एक-एक स्थान परसे। वे कहां विराज रहे हैं ? वे उसी एक स्थलमें विराज रहे हैं, यों यह बात सिद्ध होती है कि एकमें अनेक हैं। सिद्ध प्रभु एकमें एक हैं, एकमें अनेक हैं।

एक अनेकके विकल्पोंसे विविक्तता—तीसरी बात है एक अनेकन की नहि संख्या, उस स्वरूपमें एक और अनेक की संख्या ही नहीं है। यथार्थ ज्ञानी भक्त जब उस ज्ञानपुञ्जका स्मरण कर रहा है उस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका जब ध्यान कर रहा है तो उस ध्यानके समयमें उसके उपयोग की सीमा नहीं बंध सकती कि लो यह है रामचन्द्रका सिद्ध आत्मा, लो यह है आदिनाथका सिद्ध आत्मा। एक और अनेक वहां ही पुकारे जाते हैं जहां वस्तुके आकार प्रकारका ध्यान रहता है। उस गुणपुञ्जरूप सिद्ध स्वरूपके स्मरणके समय आकार प्रकारका ख्याल नहीं किया जाता। होता ही नहीं है वैसा, तो एक शुद्ध ज्ञानपुञ्ज ही दृष्ट होता है। ऐसी स्थितिमें

एक अनेककी नहीं संख्या नमो सिद्ध निरञ्जनो ।। कितना ऊँचा भाव है ? वे सिद्ध भगवान् कैसे हैं जो एक मांहि एक राजे — एक सिद्धमें एक सिद्ध है और एक सिद्धमें अनेक सिद्ध हैं। अरे वहां एक अनेककी कुछ संख्या ही नहीं है। तीन बातें कही गई हैं सिद्धके स्वरूपके स्मरणमें। उन तीनों का अर्थ सुनिये।

सिद्ध भगवंतोंके सम्बन्धमें एकमें एक व एकमें अनेक राजनेका रहस्य— एकमें एक राजे अर्थात् जो एक सिद्ध आत्मा है उस सिद्ध आत्मा में वह ही आत्मा है और वह अपने ही गुणपर्यायसे तन्मय है। भले ही उस स्थान पर अनेक सिद्ध विराज रहे हैं, परन्तु प्रत्येक सिद्ध प्रभुका ज्ञान उनके जुदा-जुदा है। उनका आनन्द उनका अपने आपमें है, एक प्रभुका परिणमन किसी अन्य प्रभुके परिणमन रूप नहीं बन जाता है। जैसे यहां ही हवा भी है, शब्द भी हैं और भी अनेक पदार्थ हैं, फिर भी वे सब केवल अपने आपमें अपना स्वरूप रखते हैं। ऐसे ही सिद्ध भगवान अपने आपमें अपना ही स्वरूप रखते हैं। इस कारण सिद्ध एकमें एक है, एकमें अनेक नहीं है। द्रव्यका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं। अपने ही अस्तित्वको लिए हुए है। एकमें एक ही है अनेक नहीं है। यह अर्थ हुआ एकमें एक राजेका।

वह प्रभु एकमें अनेक है।—जो सिद्ध इस स्थानसे मुक्त हुआ है वह इस स्थानसे फिर ठीक सीधमें लोकके अंतमें विराजमान है और इसी स्थानसे क्रमसे हजारों मनुष्य मुक्त हुए हों तो भी इस ही सीधमें वे ही विराजमान हो जाते हैं। ऐसे अनन्त सिद्ध होते हैं एक-एक स्थान परसे। वे कहां विराज रहे हैं ? वे उसी एक स्थलमें विराज रहे हैं, यों यह बात सिद्ध होती है कि एकमें अनेक हैं। सिद्ध प्रभु एकमें एक हैं, एकमें अनेक हैं।

एक अनेकके विकल्पोंसे विविक्तता— तीसरी बात है "एक अनेकन की नहि संख्या", उस स्वरूपमें एक और अनेक की संख्या ही नहीं है। यथार्थ ज्ञानी भक्त जब उस ज्ञानपुञ्जका स्मरण कर रहा है उस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका जब ध्यान कर रहा है तो उस ध्यानके समयमें उसके उपयोग की सीमा नहीं बंध सकती कि लो यह है रामचन्द्रका सिद्ध आत्मा, लो यह है आदिनाथका सिद्ध आत्मा। एक और अनेक वहां ही पुकारे जाते हैं जहां वस्तुके आकार प्रकारका ध्यान रहता है। उस गुणपुञ्जरूप सिद्ध स्वरूपके स्मरणके समय आकार प्रकारका ख्याल नहीं किया जाता। होता ही नहीं है वैसा, तो एक शुद्ध ज्ञानपुञ्ज ही दृष्ट होता है। ऐसी स्थितिमें

शक्ति व्यक्तिका समन्वय— ये अष्टमहागुणोंकर सम्बन्धित है। जो गुण वहां प्रकट हुए हैं, उन गुणोंका स्वभाव हम आपमें अभीसे है। हम भी यदि कुछ हिकमतसे चलें, व्यवहारचारित्रका आश्रय और अंतरंगमें निश्चयचारित्रका आलम्बन रखते हुए उपयोग की यात्रा शिवरूप बनायें तो यह शिवस्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। उत्कृष्ट ज्ञानविकासका स्मरण किया है। यह ज्ञानविकास कुछ नया कहींसे लाना नहीं है, यह तो ज्ञानस्वभावी ही है, किंतु भ्रमवश, परकी ओरके आकर्षणवश जो आकुलताएँ बनी हैं, उनका अभाव हो तो वह परमात्मत्व प्रकट हो जाता है।

सिद्धप्रभुका अवस्थान— सिद्धभगवान कहां विराज रहे हैं, कब तक रहते हैं? ऐसी बाह्यस्थिति भी अब बतलाई जा रही है। यह प्रभु लोकके अग्रभाग पर स्थित है। जहां तक यह लोक है, वहां तक यह प्रभु पहुंचता है। आगे धर्मास्तिकाय भाव होनेसे और इन सिद्धप्रभुके कोई वांछा तो है नहीं कि आगे पहुंचूं। केवल सहजनिमित्तनैमित्तिक योगसे लोकके अग्रभाग पर स्थित हो जाते हैं। लौकिक जन जब कभी परमात्माका स्मरण करते हैं, चाहे किसी भी नामसे करें, पर उनकी दृष्टि ऊपरकी ओर ही जाती है। जब वे भगवानको पुकारते हैं— हे प्रभु! हे भगवान! हे परमेश्वर! हे अल्ला! या जिस किसी भी नामसे पुकारते हैं, उनकी दृष्टि ऊपरकी ओर जाती है, ऊपर मुख करके बोला करते हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान सर्वत्र व्यापक हैं, वे भी कभी नीची निगाह करके भगवानको नहीं पुकारते। यह प्रकृतिकता सब मानवोंके चित्तमें बसी हुई है कि वे ऊपर ही देखकर प्रभुको पुकारते हैं। यह प्रभु लोकके अग्रभाग पर स्थित है। तीन भुवनका जो शिखर अर्थात् लोकका अंतिम स्थान है, उससे आगे गतिके हेतुका अभाव होनेसे वे लोकके अग्रभाग पर स्थित हैं।

नित्य प्रकाश— यह प्रभु नित्य है। जो पर्याय प्रभुने पायी है, जो शुद्ध निर्दोष स्थिति इनकी हुई है, उस पर्यायसे यह कभी न गिरेगा अर्थात उनमें ऐसा ही शुद्ध परिणमन प्रतिसमय निरंतर सदृश चलता ही रहेगा। इस कारण यह सिद्धभगवान नित्य कहा गया है— ऐसा यह सिद्धपरमेष्ठी पुरुष है। हम आपको प्रकाश यहां मिलेगा, सत्य-संतोष यहां प्राप्त होगा।

बहिर्मुखतामें असंतोषका विस्तार— भैया! अपने आपसे बाहर इन इंद्रियोंका मुख करके जो कुछ ज्ञान किया करते हैं, उस बोधमें संतोष नहीं मिल सकता है। मान लो, कमा लिया कुछ तो क्या पावोगे उसके फल में? जोड़कर रखा जाएगा दूसरोंके लिए ही तो। वे दूसरे सब उतने ही

शक्ति व्यक्तिका समन्वय— ये अष्टमहागुणोंकर सम्बन्धित है। जो गुण वहां प्रकट हुए हैं, उन गुणोंका स्वभाव हम आपमें अभीसे है। हम भी यदि कुछ हिकमतसे चलें, व्यवहारचारित्रका आश्रय और अंतरंगमें निश्चयचारित्रका आलम्बन रखते हुए उपयोग की यात्रा शिवरूप बनायें तो यह शिवस्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। उत्कृष्ट ज्ञानविकासका स्मरण किया है। यह ज्ञानविकास कुछ नया कहींसे लाना नहीं है, यह तो ज्ञानस्वभावी ही है, किंतु भ्रमवश, परकी ओरके आकर्षणवश जो आकुलताएँ बनी हैं, उनका अभाव हो तो वह परमात्मत्व प्रकट हो जाता है।

सिद्धप्रभुका अवस्थान— सिद्धभगवान कहां विराज रहे हैं, कब तक रहते हैं ? ऐसी बाह्यस्थिति भी अब बतलाई जा रही है। यह प्रभु लोकके अग्रभाग पर स्थित है। जहां तक यह लोक है, वहां तक वह प्रभु पहुंचता है। आगे धर्मास्तिकाय भाव होनेसे और इन सिद्धप्रभुके कोई वांछा तो है नहीं कि आगे पहुंचूं। केवल सहजनिमित्तनैमित्तिक योगसे लोकके अग्रभाग पर स्थित हो जाते हैं। लौकिक जन जब कभी परमात्माका स्मरण करते हैं, चाहे किसी भी नामसे करें, पर उनकी दृष्टि ऊपरकी ओर ही जाती है। जब वे भगवानको पुकारते हैं— हे प्रभु ! हे भगवान ! हे परमेश्वर ! हे अल्ला ! या जिस किसी भी नामसे पुकारते हैं, उनकी दृष्टि ऊपरकी ओर जाती है, ऊपर मुख करके बोला करते हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान सर्वत्र व्यापक हैं, वे भी कभी नीची निगाह करके भगवानको नहीं पुकारते। यह प्राकृतिकता सब मानवोंके चित्तमें बसी हुई है कि वे ऊपर ही देखकर प्रभुको पुकारते हैं। यह प्रभु लोकके अग्रभाग पर स्थित है। तीन भुवनका जो शिखर अर्थात् लोकका अंतिम स्थान है, उससे आगे गतिके हेतुका अभाव होनेसे वे लोकके अग्रभाग पर स्थित हैं।

नित्य प्रकाश— यह प्रभु नित्य है। जो पर्याय प्रभुने पायी है, जो शुद्ध निर्दोष स्थिति इनकी हुई है, उस पर्यायसे यह कभी न गिरेगा अर्थात् उनमें ऐसा ही शुद्ध परिणमन प्रतिसमय निरंतर सदृश चलता ही रहेगा इस कारण यह सिद्धभगवान नित्य कहा गया है— ऐसा यह सिद्धपरमेष्ठी पुरुष है। हम आपको प्रकाश यहां मिलेगा, सत्य-संतोष यहां प्राप्त होगा।

बहिर्मुखतामें असंतोषका विस्तार— भैया ! अपने आपसे बाह[illegible] इन इंद्रियोंका मुख करके जो कुछ ज्ञान किया करते हैं, उस बोधमें संतो[illegible] नहीं मिल सकता है। मान लो, कमा लिया कुछ तो क्या पावोगे उसके फ[illegible] में ? जोड़कर रखा जाएगा दूसरोंके लिए ही तो। वे दूसरे सब उतने [illegible]

चाहिए। जैसे कोई लड़की वाला बड़ा तेज हो, कठिन हो, किसीका उसमें वश न चलता हो, जरा देरमें मुकर जाए, विमुख हो जाए तो ऐसी बारात में सफलता पानेके लिए छांट-छांटकर मजबूत पहलवान बराती ले जाते हैं, नहीं तो बिना विवाहके ही बारात लौट आएगी। कठिन काम है। ऐसे ही मुक्तिकन्याके करग्रहणकी इच्छा है तो ऐसी बारात सजाकर ले जावो, जिसमें ठोस, मजबूत बाराती संगमें हों। ढूंढो ऐसे बाराती, पर एक-दो बारातियोंसे काम न बनेगा। बड़ा कठिन काम है मुक्तिकन्या से करग्रहण करना। उसके लिए अनेक बराती चाहिए। ढूंढो खोजो, अहो मिल गए, वे बराती ये हैं अनन्त सिद्ध। इन अनन्त सिद्धोंको अपने उपयोगमें विराजमान करें, इनको बराती बनावें, फिर उस मुक्तिकी चाह करना स्वीकार करें तो उसमें सफलता मिलेगी। ऐसे ये भगवंत सिद्ध परमेष्ठी हम सबके वंदनीय हैं।

त्रिलोकचूड़ामणि—ये सिद्ध परमेष्ठी ज्ञानघन हैं, ठोस ज्ञानसे विचलित नहीं हो सकते, इनके निरन्तर सर्वकालोंमें निरन्तर सर्व अर्थ-विषयक परिज्ञान रहता है। ये त्रिलोकचूड़ामणि हैं। जैसे एक चूड़ामणि नामका आभूषण सिरके ऊपर रखा जाता है उत्तम अंगके ऊपर जो आभूषण रखा जाता है वह है चूड़ामणि। ये तीन लोक पुरुषके आकारके हैं। इसका नीचेका सारा अंग दुःखरूप क्षेत्रसे व्याप्त है, नरकादिक रचनाएँ और इसका मध्य अंग नाभिका अंग कुछ थोड़ा-थोड़ा दुःखसे कम भरा क्षेत्र है, इससे ऊपरका क्षेत्र दुःखसे कुछ परे है, किन्तु इसका जो उत्तम अंग है अर्थात् ग्रीवाके ऊपरका जो अंग है उस अंगके ऊपर जो विराज रहा हो वह ही चूड़ामणि हो गया।

सिद्धोंके प्रतिसमय अनन्त आनन्दका अनुभवन—वे सिद्ध प्रभु क्या करते हैं? उनका समय कैसे गुजरता है, इनके शरीर नहीं है, कुटुम्ब परिवार नहीं है, धन वैभव नहीं है, कोई बात करने के लिए भी नहीं है। बिलकुल शरीररहित हैं, कौन बात करे, किससे बात करे, ऐसी स्थितिमें सिद्ध परमेष्ठीके दिन कैसे गुजरते होंगे, ऐसी कदाचित् किन्हीं मनचलोंको शंका भी हो सकती है। वे सिद्ध प्रभु समस्त ज्ञेयके ज्ञायक हैं और इसी कारण निज रस से लीन हैं। जिनको सर्वांगज्ञान नहीं होता है वे चलित हो जाया करते हैं। जिन्हें तीन लोक तीन कालकी सर्व यथार्थ बातें एक साथ विज्ञप्त हो रही हैं उन जीवोंमें बाधा किसी कारणसे आये तो बतावो? कुछ जाननेकी इच्छा है और इसे जाना, उसे जाना, इससे आनन्दमें बाधा आती है। यह तो क्या करता है? कोई चीज खानेको

चाहिए। जैसे कोई लड़की वाला बड़ा तेज हो, कठिन हो, किसीका उसमें वश न चलता हो, जरा देरमें मुकर जाए, विमुख हो जाए तो ऐसी बारात में सफलता पानेके लिए छांट-छांटकर मजबूत पहलवान बराती ले जाते हैं, नहीं तो बिना विवाहके ही बारात लौट आएगी। कठिन काम है। ऐसे ही मुक्तिकन्याके करग्रहणकी इच्छा है तो ऐसी बारात सजाकर ले जावो, जिसमें ठोस, मजबूत बाराती संगमें हों। ढूंढो ऐसे बाराती, पर एक-दो बारातियोंसे काम न बनेगा। बड़ा कठिन काम है मुक्तिकन्यासे करग्रहण करना। उसके लिए अनेक बराती चाहिए। ढूंढो खोजो, अहो मिल गए, वे बराती ये हैं अनन्त सिद्ध। इन अनन्त सिद्धोंको अपने उपयोगमें विराजमान करें, इनको बराती बनावें, फिर उस मुक्तिकी चाह करना स्वीकार करें तो उसमें सफलता मिलेगी। ऐसे ये भगवंत सिद्ध परमेष्ठी हम सबके वंदनीय हैं।

त्रिलोकचूड़ामणि—ये सिद्ध परमेष्ठी ज्ञानघन हैं, ठोस ज्ञानसे विचलित नहीं हो सकते, इनके निरन्तर सर्वकालोंमें निरन्तर सर्व अर्थविषयक परिज्ञान रहता है। ये त्रिलोकचूड़ामणि हैं। जैसे एक चूड़ामणि नामका आभूषण सिरके ऊपर रखा जाता है उत्तम अंगके ऊपर जो आभूषण रखा जाता है वह है चूड़ामणि। ये तीन लोक पुरुषके आकारके हैं। इसका नीचेका सारा अंग दुःखरूप क्षेत्रसे व्याप्त है, नरकादिक रचनाएँ और इसका मध्य अंग नाभिका अंग कुछ थोड़ा-थोड़ा दुःखसे कम भरा क्षेत्र है, इससे ऊपरका क्षेत्र दुःखसे कुछ परे है, किन्तु इसका जो उत्तम अंग है अर्थात् ग्रीवाके ऊपरका जो अंग है उस अंगके ऊपर जो विराज रहा हो वह ही चूड़ामणि हो गया।

सिद्धोंके प्रतिसमय अनन्त आनन्दका अनुभवन—वे सिद्ध प्रभु क्या करते हैं? उनका समय कैसे गुजरता है, इनके शरीर नहीं है, कुटुम्ब परिवार नहीं है, धन वैभव नहीं है, कोई बात करनेके लिए भी नहीं है। बिलकुल शरीररहित हैं, कौन बात करे, किससे बात करे, ऐसी स्थितिमें सिद्ध परमेष्ठीके दिन कैसे गुजरते होंगे, ऐसी कदाचित् किन्हीं मनचलोंको शंका भी हो सकती है। वे सिद्ध प्रभु समस्त ज्ञेयके ज्ञायक हैं और इसी कारण निज रस से लीन हैं। जिनको सर्वांगज्ञान नहीं होता है वे चलित हो जाया करते हैं। जिन्हें तीन लोक तीन कालकी सर्व यथार्थ बातें एक साथ विज्ञप्त हो रही हैं उन जीवोंमें बाधा किसी कारणसे आये तो बतावो? कुछ जाननेकी इच्छा है और इसे जाना, उसे जाना, इससे आनन्दमें बाधा आती है। यह तो क्या करता है? कोई चीज खानेको

है। अहो वह ऐसा अनुपम हरि है, इसकी इस विशेषताको जहां शब्दसे बांधा वहां ही लोकमें पक्ष बन गया।

सिद्धशुद्धस्वरूपसंदर्शनसंदेश— भैया! तुम तो शब्दोंके जालसे परे होकर केवल उस सिद्ध प्रसिद्ध विशुद्ध स्वरूपको ही निहारते रहो, शब्द जालका फँसाव मत बनावो। अब अधिक वचन बोलना बेकार है। उस सिद्धका प्रसाद सिद्धिका एवं उपाय है। ऐसा निर्णय करके इस परम आदर्शरूप सिद्ध भगवानके गुणोंमें दृष्टि बनावो जिससे स्वभाव तक पहुंच हो और अपने स्वभावमें स्थिति हो।

सकलकर्मविनाश— भगवान सिद्ध परमेष्ठीके अष्टकर्मोंका विनाश हुआ है। यद्यपि विनाश शब्द सुनकर कुछ चौंक यों हो सकती है कि जो सत् पदार्थ है उसका तो कभी विनाश होता ही नहीं है, फिर इन कर्मोंका विनाश कैसे हो गया? तो कर्म पर्याय जिसमें प्रकट हुई है ऐसे परमाणुवों के स्कंधोंके स्पर्शकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु कार्माणवर्गणामें जो कर्मत्व है उसका अभाव हो गया है। इसका ही मतलब है कि कर्मोंका विनाश हो गया है यों ही उनके शरीरका भी विनाश है तो उसका भी यही अर्थ है कि जो शरीरके परमाणु स्कंध हैं वे अब शरीररूप नहीं रहे, बिखर करके कपूरकी तरह उड़ करके फैल गए। फिर उनका आगे कुछ भी हाल हो। आत्माका सम्बन्ध भी शरीरसे नहीं रहा, भाव कर्मके नाशकी यह बात है कि भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। जैसे कार्माणवर्गणा द्रव्य हैं, शरीर वर्गणा द्रव्य हैं ऐसे भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। वे तो जीवके औपाधिक अवस्थाके विभाव हैं। जब जीवमें स्वभावपरिणमन प्रकट होता है तो विभावपरिणमन विलीन हो जाता है।

सकल कर्मविनाशका साधन— इन सब तीनों प्रकारके कर्मोंके विनाशका कारण केवल एक ही अनुभव है—सर्व विशुद्ध ज्ञानमात्र निज तत्त्वका अनुभव होना। यही कर्म नोकर्म और विभावके विनाशका कारण है। जैसे किसी भी बड़े ढेरके विनाशका कारण जो अग्नि होती है उस अग्निका मूल कण मात्र है। जैसे इतनी बड़ी रसोईमें कितना ही कोयला जल जाता है आगसे बहुत काम लेने पर। उस आगकी उत्पत्तिमें मूल-विकासमें थोड़े कणने काम दिया, माचिस की सींक समझो या चकमकके अग्नि कण समझो या किसी दूसरी जगहसे आगके कण मांगकर लाये तो उसका थोड़ा पुञ्ज समझो। मूलमें थोड़ा ही अग्नि कण होता है, बादमें उसका विस्तार होकर बहुत बड़ा प्रसार हो जाता है ऐसे ही इस मोक्षमार्ग में मूल अनुभव एक विशुद्ध सहज ज्ञायकस्वभावका अनुभव है, उस

है। अहो वह ऐसा अनुपम हरि है, इसकी इस विशेषताको जहां शब्दसे बांधा वहां ही लोकमें पक्ष बन गया।

सिद्धशुद्धस्वरूपसंदर्शनसंदेश— भैया! तुम तो शब्दोंके जालसे परे होकर केवल उस सिद्ध प्रसिद्ध विशुद्ध स्वरूपको ही निहारते रहो, शब्द जालका फँसाव मत बनावो। अब अधिक वचन बोलना बेकार है। उस सिद्धका प्रसाद सिद्धिका एक उपाय है। ऐसा निर्णय करके इस परम आदर्शरूप सिद्ध भगवानके गुणोंमें दृष्टि बनावो जिससे स्वभाव तक पहुंच हो और अपने स्वभावमें स्थिति हो।

सकलकर्मविनाश— भगवान सिद्ध परमेष्ठीके अष्टकर्मोंका विनाश हुआ है। यद्यपि विनाश शब्द सुनकर कुछ चौंक यों हो सकती है कि जो सत् पदार्थ है उसका तो कभी विनाश होता ही नहीं है, फिर इन कर्मोंका विनाश कैसे हो गया? तो कर्म पर्याय जिसमें प्रकट हुई है ऐसे परमाणुवों के स्कंधोंके स्पर्शकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु कार्माणवर्गणामें जो कर्मत्व है उसका अभाव हो गया है। इसका ही मतलब है कि कर्मोंका विनाश हो गया है यों ही उनके शरीरका भी विनाश है तो उसका भी यही अर्थ है कि जो शरीरके परमाणु स्कंध हैं वे अब शरीररूप नहीं रहे, बिखर करके कपूरकी तरह उड़ करके फैल गए। फिर उनका आगे कुछ भी हाल हो। आत्माका सम्बन्ध भी शरीरसे नहीं रहा, भाव कर्मके नाशकी यह बात है कि भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। जैसे कार्माणवर्गणा द्रव्य हैं, शरीर वर्गणा द्रव्य हैं ऐसे भावकर्म कोई द्रव्य नहीं हैं। वे तो जीवके औपाधिक अवस्थाके विभाव हैं। जब जीवमें स्वभावपरिणमन प्रकट होता है तो विभावपरिणमन विलीन हो जाता है।

सकल कर्मविनाशका साधन— इन सब तीनों प्रकारके कर्मोंके विनाशका कारण केवल एक ही अनुभव है—सर्व विशुद्ध ज्ञानमात्र निज तत्त्वका अनुभव होना। यही कर्म नोकर्म और विभावके विनाशका कारण है। जैसे किसी भी बड़े ढेरके विनाशका कारण जो अग्नि होती है उस अग्निका मूल कण मात्र है। जैसे इतनी बड़ी रसोईमें कितना ही कोयला जल जाता है आगसे बहुत काम लेने पर। उस आगकी उत्पत्तिमें मूल विकासमें थोड़े कणने काम दिया, माचिस की सींक समझो या चकमकके अग्नि कण समझो या किसी दूसरी जगहसे आगके कण मांगकर लाये तो उसका थोड़ा पुञ्ज समझो। मूलमें थोड़ा ही अग्नि कण होता है, बादमें उसका विस्तार होकर बहुत बड़ा प्रसार हो जाता है ऐसे ही इस मोक्षमार्गमें मूल अनुभव एक विशुद्ध सहज ज्ञायकस्वभावका अनुभव है, उस

है। अहो वह ऐसा अनुपम हरि है, इसकी इस विशेषताको अहां शब्दसे बांधा वहां ही लोकमें पक्ष बन गया।

सिद्धशुद्धस्वरूपमें दर्शनसंदेश— भैया! तुम तो शब्दोंके जालसे परे होकर केवल उस सिद्ध प्रसिद्ध विशुद्ध स्वरूपको ही निहारते रहो, शब्द जालका फँसाव मत बनावो। अब अधिक वचन बोलना बेकार है। उस सिद्धका प्रसाद सिद्धिका सर्व उपाय है। ऐसा निर्णय करके इस परम आदर्शरूप सिद्ध भगवानके गुणोंमें दृष्टि बनावो जिससे स्वभाव तक पहुंच हो और अपने स्वभावमें स्थिति हो।

सकलकर्मविनाश— भगवान सिद्ध परमेष्ठीके अष्टकर्मोंका विनाश हुआ है। यद्यपि विनाश शब्द सुनकर कुछ चौंक यों हो सकती है कि जो सत् पदार्थ है उसका तो कभी विनाश होता ही नहीं है, फिर इन कर्मोंका विनाश कैसे हो गया? तो कर्म पर्याय जिसमें प्रकट हुई है ऐसे परमाणुवों के स्कंधोंके स्वरूपकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु कार्माणवर्गणामें जो कर्मत्व है उसका अभाव हो गया है। इसका ही मतलब है कि कर्मोंका विनाश हो गया है यों ही उनके शरीरका भी विनाश है तो उसका भी यही अर्थ है कि जो शरीरके परमाणु स्कंध हैं वे अब शरीररूप नहीं रहे, बिखर करके कपूरकी तरह उड़ करके फैल गए। फिर उनका आगे कुछ भी हाल हो। आत्माका सम्बन्ध भी शरीरसे नहीं रहा, भाव कर्मके नाशकी यह बात है कि भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। जैसे कार्माणवर्गणा द्रव्य हैं, शरीर वर्गणा द्रव्य हैं ऐसे भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। वे तो जीवके औपाधिक अवस्थाके विभाव हैं। जब जीवमें स्वभावपरिणमन प्रकट होता है तो विभावपरिणमन विलीन हो जाता है।

सकल-कर्मविनाशका साधन— इन सब तीनों प्रकारके कर्मोंके विनाशका कारण केवल एक ही अनुभव है—सर्व विशुद्ध ज्ञानमात्र निज तत्त्वका अनुभव होना। यही कर्म नोकर्म और विभावके विनाशका कारण है। जैसे किसी भी बड़े ढेरके विनाशका कारण जो अग्नि होती है उस अग्निका मूल कण मात्र है। जैसे इतनी बड़ी रसोईमें कितना ही कोयला जल जाता है आगसे बहुत काम लेने पर। उस आगकी उत्पत्तिमें मूल विकासमें थोड़े कणने काम दिया, माचिस की सींक समझो या चकमकके अग्नि कण समझो या किसी दूसरी जगहसे आगके कण मांगकर लाये तो उसका थोड़ा पुञ्ज समझो। मूलमें थोड़ा ही अग्नि कण होता है, बादमें उसका विस्तार होकर बहुत बड़ा प्रसार हो जाता है ऐसे ही इस मोक्षमार्ग में मूल अनुभव एक विशुद्ध सहज ज्ञायकस्वभावका अनुभव है, उस

है। अहो वह ऐसा अनुपम हरि है, इसकी इस विशेषताको जहां शब्दसे बांधा वहां ही लोकमें पक्ष बन गया।

सिद्धशुद्धस्वरूपमें दर्शनसंदेश— भैया! तुम तो शब्दोंके जालसे परे होकर केवल उस सिद्ध प्रसिद्ध विशुद्ध स्वरूपको ही निहारते रहो, शब्द जालका फँसाव मत बनावो। अब अधिक वचन बोलना बेकार है। उस सिद्धका प्रसाद सिद्धिका सर्व उपाय है। ऐसा निर्णय करके इस परम आदर्शरूप सिद्ध भगवानके गुणोंमें दृष्टि बनावो जिससे स्वभाव तक पहुंच हो और अपने स्वभावमें स्थिति हो।

सकलकर्मविनाश— भगवान सिद्ध परमेष्ठीके अष्टकर्मोंका विनाश हुआ है। यद्यपि विनाश शब्द सुनकर कुछ चौंक यों हो सकती है कि जो सत् पदार्थ है उसका तो कभी विनाश होता ही नहीं है, फिर इन कर्मोंका विनाश कैसे हो गया? तो कर्म पर्याय जिसमें प्रकट हुई है ऐसे परमाणुवों के स्कंधोंके स्पर्शकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु कार्माणवर्गणामें जो कर्मत्व है उसका अभाव हो गया है। इसका ही मतलब है कि कर्मोंका विनाश हो गया है यों ही उनके शरीरका भी विनाश है तो उसका भी यही अर्थ है कि जो शरीरके परमाणु स्कंध हैं वे अब शरीररूप नहीं रहे, बिखर करके कपूरकी तरह उड़ करके फैल गए। फिर उनका आगे कुछ भी हाल हो। आत्माका सम्बन्ध भी शरीरसे नहीं रहा, भाव कर्मके नाशकी यह बात है कि भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। जैसे कार्माणवर्गणा द्रव्य हैं, शरीर वर्गणा द्रव्य हैं ऐसे भावकर्म कोई द्रव्य नहीं है। वे तो जीवके औपाधिक अवस्थाके विभाव हैं। जब जीवमें स्वभावपरिणमन प्रकट होता है तो विभावपरिणमन विलीन हो जाता है।

सकल-कर्मविनाशका साधन— इन सब तीनों प्रकारके कर्मोंके विनाशका कारण केवल एक ही अनुभव है—सर्व विशुद्ध ज्ञानमात्र निज तत्त्वका अनुभव होना। यही कर्म नोकर्म और विभावके विनाशका कारण है। जैसे किसी भी बड़े ढेरके विनाशका कारण जो अग्नि होती है उस अग्निका मूल कण मात्र है। जैसे इतनी बड़ी रसोईमें कितना ही कोयला जल जाता है आगसे बहुत काम लेने पर। उस आगकी उत्पत्तिमें मूल विकासमें थोड़े कणने काम दिया, माचिस की सींक समझो या चकमकके अग्नि कण समझो या किसी दूसरी जगहसे आगके कण मांगकर लाये तो उसका थोड़ा पुञ्ज समझो। मूलमें थोड़ा ही अग्नि कण होता है, बादमें उसका विस्तार होकर बहुत बड़ा प्रसार हो जाता है ऐसे ही इस मोक्षमार्ग में मूल अनुभव एक विशुद्ध सहज ज्ञायकस्वभावका अनुभव है, उस

प्रदेशका आकार रहता है।

सिद्ध परमेष्ठीका आदर्श स्वरूप— भैया ! सब तरहसे सिद्ध परमेष्ठी को पहिचान कर प्रयोजनभूत तत्त्व पहिचानो तो उनका गुणविकास है स्वभाव है। वे कितने में फैले हुए हैं, इतना ज्ञान करने का असर हमारे अध्यात्ममें नहीं पड़ता है, वे लोकके अग्र भाग पर स्थित हैं, इतना जानने में हमारे अध्यात्मका आंतरिक प्रभाव नहीं पड़ता है। जितने चाहे वे सब परिज्ञान सहायक हैं, किन्तु सिद्ध भगवान कैसे विकास वाले हैं ऐसा उनके गुण और स्वभावके उपयोग से ही परिज्ञात होता है। प्रभुके स्वभावका परिज्ञान होनेसे अपने आपके स्वरूपका भान होता है। सर्वोत्कृष्ट सर्वथा चरम विकास वाले परमेष्ठियोंका सिद्ध नाम क्यों है ? इसका उत्तर सिद्ध शब्दसे ही मिल जाता है।

सिद्ध शब्दका प्रथम व द्वितीय अर्थ— सिद्धका अर्थ है— "सितं दग्धं कर्मइंधनं येन सः सिद्धः।" जिसने कर्म इंधनको जला डाला है उसे सिद्ध कहते हैं। जहां आठों कर्मोंका अभाव हो गया उसे सिद्ध कहते हैं। "सेधतिस्म इति सिद्धः।" अथवा सिद्ध शब्द षिधु धातुसे बना है। इस तरह जो चले गये उन्हें सिद्ध कहते हैं पुनः लौटकर नहीं आ सकते जैसे अपने व्यवहारमें जाने चलने के अनेक शब्द हैं, वह गया, वह भगा, वह चला, वह चमका, कितने ही शब्द हैं। तो उन सब शब्दोंमें जुदा जुदा भाव ध्वनित होता है। इसी तरह इस 'षिधु धातुसे यह भाव ध्वनित होता है कि जो ऐसा चला गया कि फिर लौटकर न आये उसे सिद्ध कहते हैं। भगवान चले गए, अब वे लौटकर न आयेंगे।

सिद्ध का तृतीय अर्थ— अथवा सिध धातु सिद्धि अर्थमें है। 'सेधति सिद्ध्यतिस्म' अर्थात 'निष्ठितार्थः अभवत् इति सिद्धः।' जिसका प्रयोजन पूर्ण हो चुका है अर्थात् कृतकृत्य होकर जिसने करने योग्य काम सब कर लिया है उसे सिद्ध कहते हैं। अब बतलाओ सिद्ध प्रभुको करनेके लिए क्या है ? पूर्ण ज्ञानका विकास है, पूर्ण आनन्दका प्रसार है, करनेको कुछ रहा है क्या अब ? वास्तवमें यहां भी बाहरमें हम आपके भी करने लायक कुछ नहीं है। क्या करें ? मकान बनाया, प्रथम तो बना ही नहीं सकते। मान लो वह बन गया तो उस मकानके बन जाने से आत्माको कौन सी सिद्धि हो गयी ? यह मकान बना और मरकर चले गये पचास, सौ राजू दूर कहीं पैदा हो गये, किसी अन्य भवमें पैदा हो गए, तो अब क्या रहा ? यहां का कुछ भी किस काम आया परभवमें तो काम क्या आये इस भवमें भी यह पुद्गल प्रसंग काम नहीं आता है।

प्रदेशका आकार रहता है ।

सिद्ध परमेष्ठीका आदर्श स्वरूप— भैया ! सब तरहसे सिद्ध परमेष्ठी
को पहिचान कर प्रयोजनभूत तत्त्व पहिचानो तो उनका गुणविकास है
स्वभाव है । वे कितने में फैले हुए हैं, इतना ज्ञान करने का असर हमारे
अध्यात्ममें नहीं पड़ता है, वे लोकके अग्र भाग पर स्थित हैं, इतना जानने
में हमारे अध्यात्मका आंतरिक प्रभाव नहीं पड़ता है । जितने चाहे वे सब
परिज्ञान सहायक हैं, किन्तु सिद्ध भगवान कैसे विकास वाले हैं ऐसा उनके
गुण और स्वभावके उपयोग से ही परिज्ञात होता है । प्रभुके स्वभावका
परिज्ञान होनेसे अपने आपके स्वरूपका भान होता है । सर्वोत्कृष्ट सर्वथा
चरम विकास वाले परमेष्ठियोंका सिद्ध नाम क्यों है ? इसका उत्तर सिद्ध
शब्दसे ही मिल जाता है ।

सिद्ध शब्दका प्रथम व द्वितीय अर्थ— सिद्धका अर्थ है— "सितं
दग्धं कर्मइंधनं येन सः सिद्धः ।" जिसने कर्म ईंधनको जला डाला है उसे
सिद्ध कहते हैं । जहां आठों कर्मोंका अभाव हो गया उसे सिद्ध कहते हैं ।
अथवा सिद्ध शब्द षिधु धातुसे बना है । "सेधतिस्म इति सिद्धः ।" जो
पुनः लौटकर नहीं आ सकते इस तरह जो चले गये उन्हें सिद्ध कहते हैं
जैसे अपने व्यवहारमें जाने चलने के अनेक शब्द हैं, वह गया, वह भगा,
वह चला, वह चमका, कितने ही शब्द हैं । तो उन सब शब्दोंमें जुदा जुदा
भाव ध्वनित होता है । इसी तरह इस 'षिधु धातुसे यह भाव ध्वनित होता
है कि जो ऐसा चला गया कि फिर लौटकर न आये उसे सिद्ध कहते हैं ।
भगवान चले गए, अब वे लौटकर न आयेंगे ।

सिद्ध का तृतीय अर्थ— अथवा षिध धातु सिद्धि अर्थमें है ।
'सेधति सिद्धयतिस्म' अर्थात 'निष्ठितार्थः अभवत् इति सिद्धः ।' जिसका
प्रयोजन पूर्ण हो चुका है अर्थात कृतकृत्य होकर जिसने करने योग्य काम
सब कर लिया है उसे सिद्ध कहते हैं । अब बतलावो सिद्ध प्रभुको करनेके
लिए क्या है ? पूर्ण ज्ञानका विकास है, पूर्ण आनन्दका प्रसार है, करनेको
कुछ रहा है क्या अब ? वास्तवमें यहां भी बाह्यमें हम आपके भी करने
लायक कुछ नहीं है । क्या करें ? मकान बनाया, प्रथम तो बना ही नहीं
सकते । मान लो वह बन गया तो उस मकानके बन जाने से आत्माको
कौन सी सिद्धि हो गयी ? यह मकान बना और मरकर चले गये पचास,
सौ राजू दूर कहीं पैदा हो गये, किसी अन्य भवमें पैदा हो गए, तो कब
क्या रहा ? यहां का कुछ भी किस काम आया परभवमें तो काम क्या
आये इस भवमें भी यह पुद्गल प्रसंग काम नहीं आता है ।

है— ५ आचार, ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, १२ प्रकारके तप और ६ आवश्यक अथवा महाव्रतसमितिके स्थानमें १० धर्म लें, यों ३६ उनके मूल गुण बताये हैं, किन्तु एक दृष्टिसे देखो तो जिस कलाके कारण वे आचार्य कहलाते हैं उस दृष्टिसे इनके ८ महागुण हैं।

आचार्यमें ८ महागुणोंकी विशेषता— ३६ प्रकारके गुण वे तो हैं ही साधुके नाते। जितने साधु हैं सभी साधुवोंमें ये ३६ गुण होने चाहियें। क्या उन साधुवोंको तप न करना चाहिए, व्रत न करना चाहिए? करना चाहिए, तो वे सब एक सर्व श्रमणोंमें साधारण हो गए। हां इतनी विशेषता है कि साधुवोंके चारित्रसे आचार्यके चारित्रमें कुछ दृढ़ता है और वे दूसरों से पालन भी कराते हैं किन्तु दृढ़ता भी किन्हीं-किन्हीं साधुवोंमें आचार्यों से भी अधिक होती है तप आदिकके पालनेमें। खैर, ये ३६ मूलगुण हैं जिनका प्रसार अन्य साधुजनोंमें करते हैं, उनका प्रसार जब आचार्य महाराज भली प्रकार करें तब ही तो करा सकते हैं। इस कारण ३६ मूलगुण बताये हैं, किन्तु आचार्यत्व जिस कारणसे होता है उस दृष्टिसे ये आठों भी गुण सुनिये। पहिला गुण है आचारवत्व, दूसरा आधारत्व, तीसरा व्यवहारवत्व, चौथा प्रकारत्व, पांचवां गुण है आयापायविदर्शित्व, छठवां गुण है अपरिश्राविस्व, सातवां गुण है अवकीर्णकत्व, आठवां गुण है निर्यावकत्व। ये बातें जरा प्रसिद्ध नहीं हैं। इस कारण सुननेमें ऐसा लगता होगा कि यह कोई नई बात बतायी जा रही है। आचार्यके ये ८ महागुण होते हैं, यह शास्त्रयुक्त है और इन ८ विशेषतावोंके कारण वे आचार्य कहलाते हैं। इन गुणोंसे युक्त आत्माके आचार्यत्व होता है।

आचार्यका आचारवत्त्व गुण— ५ प्रकारके आचारोंका स्वयं निर्दोष पालन करना, अन्य साधुवोंको पालन कराना, यह है आचार्यत्व। जितनी ३६ प्रकारकी बातें बतायी हैं वे सब एक दो गुणोंमें आ गयीं। चारित्राचार में ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति आ गयी, तपाचारमें १२ प्रकारका तप आ गया। ५ आचारोंमें ५ आचार हैं ही और आवश्यक भी उन्हींमें गर्भित हो गए। यों एक आचारवत्त्व गुणने सबको प्रतिष्ठित कर दिया। अब और विशेषता सुनिये।

आचार्यका आधारवत्त्व गुण— दूसरा गुण है आधारवत्व। आचारांग आदि श्रुतका विशेष धारक हो उसे कहते हैं आधारतत्त्व। जैसे आपने एषणासमितिमें और अन्य समितियोंमें भी साधुका स्वरूप सुना था और उससे यह बात प्रकट की होगी अपने आपमें कि वास्तवमें साधु कैसा होना चाहिए? अब आप यह बात देखें—वास्तवमें आचार्य कैसा

है— ५ आचार, ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, १२ प्रकारके तप और ६ आवश्यक अथवा महाव्रतसमितिके स्थानमें १० धर्म लें, यों ३६ उनके मूल गुण बताये हैं, किन्तु एक दृष्टिसे देखो तो जिस कलाके कारण वे आचार्य कहलाते हैं उस दृष्टिसे इनके ८ महागुण हैं।

आचार्यमें ८ महागुणोंकी विशेषता— ३६ प्रकारके गुण वे तो हैं ही साधुके नाते। जितने साधु हैं सभी साधुवोंमें ये ३६ गुण होने चाहियें। क्या उन साधुवोंको तप न करना चाहिए, व्रत न करना चाहिए? करना चाहिए, तो वे सब एक सर्व श्रमणोंमें साधारण हो गए। हां इतनी विशेषता है कि साधुवोंके चारित्रसे आचार्यके चारित्रमें कुछ दृढ़ता है और वे दूसरों से पालन भी कराते हैं किन्तु दृढ़ता भी किन्हीं-किन्हीं साधुवोंमें आचार्यों से भी अधिक होती है तप आदिकके पालनेमें। खैर, ये ३६ मूलगुण हैं जिनका प्रसार अन्य साधुजनोंमें करते हैं, उनका प्रसार जब आचार्य महाराज भली प्रकार करें तब ही तो करा सकते हैं। इस कारण ३६ मूलगुण बताये हैं, किन्तु आचार्यत्व जिस कारणसे होता है उस दृष्टिसे ये आठों भी गुण सुनिये। पहिला गुण है आचारवत्व, दूसरा आधारत्व, तीसरा व्यवहारवत्व, चौथा प्रकारत्व, पांचवां गुण है आयापायविदर्शित्व, छठवां गुण है अपरिश्राविरत्व, सातवां गुण है अवकीर्णकत्व, आठवां गुण है निर्यापकत्व। ये बातें जरा प्रसिद्ध नहीं हैं। इस कारण सुननेमें ऐसा लगता होगा कि यह कोई नई बात बताई जा रही है। आचार्यके ये ८ महागुण होते हैं, यह शास्त्रयुक्त है और इन ८ विशेषतावोंके कारण वे आचार्य कहलाते हैं। इन गुणोंसे युक्त आत्माके आचार्यत्व होता है।

आचार्यका आचारवत्त्व गुण— ५ प्रकारके आचारोंका स्वयं निर्दोष पालन करना, अन्य साधुवोंको पालन कराना, यह है आचार्यत्व। जितनी ३६ प्रकारकी बातें बतायी हैं वे सब एक दो गुणोंमें आ गयीं। चारित्राचार में ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति आ गयी, तपाचारमें १२ प्रकारका तप आ गया। ५ आचारोंमें ५ आचार हैं ही और आवश्यक भी उन्हींमें गर्भित हो गए। यों एक आचारवत्त्व गुणने सबको प्रतिष्ठित कर दिया। अब और विशेषता सुनिये।

आचार्यका आधारवत्त्व गुण— दूसरा गुण है आधारवत्व। आचारांग आदि श्रुतका विशेष धारक हो उसे कहते हैं आधारतत्त्व। जैसे आपने एषणासमितिमें और अन्य समितियोंमें भी साधुका स्वरूप सुना था और उससे यह बात प्रकट की होगी अपने आपमें कि वास्तवमें साधु कैसा होना चाहिए? अब आप यह बात देखें—वास्तवमें आचार्य कैसा

पर कदाचित् छिपाये तो आचार्यका इतना प्रताप है कि वह छुपा नहीं पाता है, फिर आचार्य सोचकर उसे प्रायश्चित्त देते हैं। कौन शिष्य कैसा है, किस योग्य है, कैसा ज्ञानबल है, किस ओर उसका मुकाव है? सब बात आचार्यको यथार्थ विदित रहती हैं और उसके अनुसार वे प्रायश्चित्त देते हैं। वहां शिष्यजन यह शंका नहीं करते कि यह दोष तो इसने किया है, मुझे तो आचार्य महाराज ने बड़ा दण्ड दिया। यह दोष इसने किया, इसने बहुत ही कम प्रायश्चित्त किया। जो आचार्य प्रायश्चित देते हैं उसे शिष्य प्रमाणभूत मानते हैं।

योग्यतानुसार प्रायश्चित्तप्रदान— एक लौकिक कहानी है कि एक बार तीन चोरोंने चोरी की। उनमें एक बड़ा सज्जन था और पहिला ही दिन था चोरी करनेका। उस दिन किसी कारणसे उन चोरोंके संगमें हो गया था, तो कुछ दिन मामला सुननेके बाद न्यायाधीश ने उन तीनों चोरों को तीन तरहके दण्ड दिये। एक को कहा कि तुमने बहुत बुरा काम किया तुमको ऐसा न करना चाहिए था, ऐसा कहकर छोड़ दिया। एक चोरको एक सालकी सजा दे दी। एक चोरको यह दण्ड दिया कि इसका मुँह काला करके गधे पर बैठालकर नगरमें घुमाया जाय। लोग सुनकर सोचने लगे कि एक ही तरहकी चोरी एक ही तरहका अपराध और तीन तरहके दण्ड क्यों दिये? अब दण्डके बाद समझमें आयेगा। जिसको यों ही छोड़ दिया गया यह कहकर कि धिक्कार है तुमने बुरा काम किया, सो उसके इतनी लाज लगी कि वह घरमें आकर कोठरीमें छुपकर हवा बंदमें पड़ा रहा जिससे दम घुटकर मर गया। एक चोर तो जेलमें है ही, और उसका किस्सा सुनो जिसका मुँह काला करके गधेपर बैठाल कर नगरमें घुमाया जा रहा था। वह चला जा रहा है मजेमें। जब उसका घर पड़ा सामने तो स्त्री भी देखती है। सभी लोग देखना चाहते हैं। विचित्र तो ढंग है, वह पुरुष गधे पर बैठा हुआ ही अपनी स्त्रीसे चिल्लाकर कहता है कि अरे पानी गरम करके रखना, थोड़ा और घूमनेके लिए नगर रह गया है। देख लो उसका काला मुँह करके गधे पर बैठाल कर घुमाना भी कम दण्ड है तो आचार्य महाराज सब शिष्योंकी बात परखते हैं—किसको किस तरहका प्रायश्चित्त देना चाहिए? इतनी योग्यता जिसमें पड़ी हो वह आचार्य हो सकता है, अन्य कोई नहीं हो सकता है। आचार्य होना इन ८ गुणोंके आधार पर है, जिसमें यह तीसरा गुण बताया है।

आचार्यका प्रकारकत्व गुण— चौथा गुण है प्रकारकत्व। सर्व संघ की वैयावृत्ति करनेकी विधिका परिज्ञान हो और वैयावृत्य करनेकी जिनमें

पर कदाचित् छिपाये तो आचार्यका इतना प्रताप है कि वह छुपा नहीं पाता है, फिर आचार्य सोचकर उसे प्रायश्चित्त देते हैं। कौन शिष्य कैसा है, किस योग्य है, कैसा ज्ञानबल है, किस ओर उसका मुकाव है ? सब बात आचार्यको यथार्थ विदित रहती है और उसके अनुसार वे प्रायश्चित्त देते हैं। वहां शिष्यजन यह शंका नहीं करते कि यह दोष तो इसने किया है, मुझे तो आचार्य महाराज ने बड़ा दण्ड दिया। यह दोष इसने किया, इसने बहुत ही कम प्रायश्चित्त किया। जो आचार्य प्रायश्चित देते हैं उसे शिष्य प्रमाणभूत मानते हैं।

योग्यतानुसार प्रायश्चित्तप्रदान— एक लौकिक कहानी है कि एक बार तीन चोरोंने चोरी की। उनमें एक बड़ा सज्जन था और पहिला ही दिन था चोरी करनेका। उस दिन किसी कारणसे उन चोरोंके संगमें हो गया था, तो कुछ दिन मामला सुननेके बाद न्यायाधीश ने उन तीनों चोरों को तीन तरहके दण्ड दिये। एक को कहा कि तुमने बहुत बुरा काम किया तुमको ऐसा न करना चाहिए था, ऐसा कहकर छोड़ दिया। एक चोरको एक सालकी सजा दे दी। एक चोरको यह दण्ड दिया कि इसका मुँह काला करके गधे पर बैठालकर नगरमें घुमाया जाय। लोग सुनकर सोचने लगे कि एक ही तरहकी चोरी एक ही तरहका अपराध और तीन तरहके दण्ड क्यों दिये ? अब दण्डके बाद समझमें आयेगा। जिसको यों ही छोड़ दिया गया यह कहकर कि धिक्कार है तुमने बुरा काम किया, सो उसके इतनी लाज लगी कि वह घरमें आकर कोठरीमें छुपकर हवा बंदमें पड़ा रहा जिससे दम घुटकर मर गया। एक चोर तो जेलमें है ही, और उसका किस्सा सुनो जिसका मुँह काला करके गधेपर बैठाल कर नगरमें घुमाया जा रहा था। वह चला जा रहा है मजेमें। जब उसका घर पड़ा सामने तो स्त्री भी देखती है। सभी लोग देखना चाहते हैं। विचित्र तो ढंग है, वह पुरुष गधे पर बैठा हुआ ही अपनी स्त्रीसे चिल्लाकर कहता है कि अरे पानी गरम करके रखना, थोड़ा और घूमनेके लिए नगर रह गया है। देख लो उसका काला मुँह करके गधे पर बैठाल कर घुमाना भी कम दण्ड है तो आचार्य महाराज सब शिष्योंकी बात परखते हैं—किसको किस तरहका प्रायश्चित्त देना चाहिए ? इतनी योग्यता जिसमें पड़ी हो वह आचार्य हो सकता है, अन्य कोई नहीं हो सकता है। आचार्य होना इन ८ गुणोंके आधार पर है, जिसमें यह तीसरा गुण बताया है।

आचार्यका प्रकारकत्व गुण— चौथा गुण है प्रकारकत्व। सर्व संग की वैयावृत्ति करनेकी विधिका परिज्ञान हो और वैयावृत्य करनेकी जिनमें

आचार्यका निर्यापकत्व गुण— ८ वां गुण है निर्यापकत्व। शिष्यों का निर्यापन करना। शिष्यने जो आराधना धारण की है उसकी यह आराधना अंतिम समय तक चले और उस समाधिका समताका आश्रय पाकर शिष्य पार हो जाय, ऐसा उपाय करना ऐसी जिसमें क्षमता हो, वह निर्यापक कहलाता है। ऐसे ८ महागुणकरि सम्पन्न जो साधु परमेष्ठी होते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

आचार्यदेवकी संवेगनिष्ठता— ये भगवान आचार्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य—इन ५ आचारोंसे परिपूर्ण हैं और पंचेन्द्रियरूपी मदांध हाथीके दर्पको दलनेमें समर्थ हैं अर्थात् विषयोंकी आशामें रंच भी वश नहीं हैं। सारी बात लगनकी होती है। लगन हुए बिना धर्मका कोई कार्य किया जाय, कोई भेष रखा जाय उससे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। जिसकी लगन शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके शुद्धविकासकी ही लग रही हो उसके लिए ये सरस आहार सब विरस लगते हैं। उनको तो रस अपने दर्शन ज्ञान स्वभावकी अनुभूतिमें आता है। लगनकी बात है। इसकी लगन जिसे नहीं है वह इसके रहस्यको क्या पहिचान सकता है? यों ही समझ लीजिए सांसारिक कार्योंमें जिसको जिस बातकी तृष्णा हो गयी है, जिसकी जिसे लगन हो गयी है उसे अन्य कुछ नहीं सूझता। उसको तो केवल अपने लक्ष्यकी बात ही सूझती है। तो लगनमें यह प्रताप प्रकट होता है कि उसे बाकी बातें सब नीरस मालूम होने लगती हैं। उसको निजमें लीन होने वाली बात ही सरस लगती है।

सकलसंन्यासियोंकी विषयातीतता— जिन महाभाग निकट भव्य मुनिराजको केवल एक शुद्ध ज्ञानमात्र रहनेकी स्थितिकी लगन लगी है, जो ज्ञाताद्रष्टा रहनेका ही यत्न करते हैं, रंच भी राग और द्वेष हो तो उसे अपना अपाय समझते हैं उनको ये आहार आदिक कैसे रुच सकते हैं? साधुजन ध्यान तपस्यामें लीन हैं। कोई कीड़ी, बिच्छू, स्याल, चूहा कुछ भी भख रहा हो, काट रहा हो तो भी वे अपने आत्मस्वरूपसे नहीं डिगते हैं। क्या उनके हाथमें इतना बल नहीं है कि उन्हें वे अपने हाथोंसे हटा सकें? अरे उनमें तो इतना बल है कि वे बड़े-बड़े सिंहोंको भी अपने भुजावोंके बलसे हटा दें, पर वे अव्यग्र होकर ध्यानमें लगते हैं। चक्रवर्ती भी तो मुनि हो जाते हैं, कोटिबलधारी भी तो मुनि बन जाते हैं, लेकिन उन्हें ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थितिसे इतना पूर्ण अनुराग है कि वे इन विकल्पोंको भी पसंद नहीं करते। वे इस देहके रागको अथवा डसने वाले इन कीट आदिकके द्वेषको रंच भी पसंद नहीं करते। जानते हैं कि राग-

आचार्यका निर्यापकत्व गुण— ८ वां गुण है निर्यापकत्व। शिष्यों का निर्यापन करना। शिष्यने जो आराधना धारण की है उसकी यह आराधना अंतिम समय तक चले और उस समाधिका समताका आश्रय पाकर शिष्य पार हो जाय, ऐसा उपाय करना ऐसी जिसमें क्षमता हो, वह निर्यापक कहलाता है। ऐसे ८ महागुणकरि सम्पन्न जो साधु परमेष्ठी होते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

आचार्यदेवकी संवेगनिष्ठता— ये भगवान आचार्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य—इन ५ आचारोंसे परिपूर्ण हैं और पंचेन्द्रियरूपी मदांध हाथीके दर्पको दलनेमें समर्थ हैं अर्थात् विषयोंकी आशायें रंच भी वश नहीं हैं। सारी बात लगनकी होती है। लगन हुए बिना धर्मका कोई कार्य किया जाय, कोई भेष रखा जाय उससे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। जिसकी लगन शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके शुद्धविकासकी ही लग रही हो उसके लिए ये सरस आहार सब विरस लगते हैं। उनको तो रस अपने दर्शन ज्ञान स्वभावकी अनुभूतिमें आता है। लगनकी बात है। इसकी लगन जिसे नहीं है वह इसके रहस्यको क्या पहिचान सकता है? यों ही समझ लीजिए सांसारिक कार्योंमें जिसको जिस बातकी तृष्णा हो गयी है, जिसकी जिसे लगन हो गयी है उसे अन्य कुछ नहीं सूझता। उसको तो केवल अपने लक्ष्यकी बात ही सूझती है। तो लगनमें यह प्रताप प्रकट होता है कि उसे बाकी बातें सब नीरस मालूम होने लगती हैं। उसको निजमें लीन होने वाली बात ही सरस लगती है।

सकलसंन्यासियोंकी विषयातीतता— जिन महाभाग निकट भव्य मुनिराजको केवल एक शुद्ध ज्ञानमात्र रहनेकी स्थितिकी लगन लगी है, जो ज्ञाताद्रष्टा रहनेका ही यत्न करते हैं, रंच भी राग और द्वेष हो तो उसे अपना अपाय समझते हैं उनको ये आहार आदिक कैसे रुच सकते हैं? साधुजन ध्यान तपस्यामें लीन हैं। कोई कीड़ी, बिच्छू, स्याल, चूहा कुछ भी भख रहा हो, काट रहा हो तो भी वे अपने आत्मस्वरूपसे नहीं बिगते हैं। क्या उनके हाथमें इतना बल नहीं है कि उन्हें वे अपने हाथोंसे हटा सकें? अरे उनमें तो इतना बल है कि वे बड़े-बड़े सिंहोंको भी अपने भुजावोंके बलसे हटा दें, पर वे अव्यग्र होकर ध्यानमें लगते हैं। चक्रवर्ती भी तो मुनि हो जाते हैं, कोटिबलधारी भी तो मुनि बन जाते हैं, लेकिन उन्हें ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थितिसे इतना पूर्ण अनुराग है कि वे इन विकल्पोंको भी पसंद नहीं करते। वे इस देहके रागको अथवा डसने वाले इन कीट आदिकके द्वेषको रंच भी पसंद नहीं करते। जानते हैं कि राग-

अपने पदसे चलित हो रहा है। जो सत्य धर्मके वचन सुननेकी ही भावना बनाये रहते हैं, जो धार्मिक, आध्यात्मिक भक्ति विषयक शब्द ही सुनना चाहते हैं अथवा जो सभी प्रकारके इन्द्रियोंके संयमकी वाञ्छा रखते हैं, जो गुप्तिके पालनेमें अभिलाषी रहते हैं ऐसे पुरुष संतजन किस विषयकी अभिलाषा करेंगे? जैसे कोई वीर मदांध हस्तीके घमंडको दलित कर देता है ऐसे ही ये मोक्षमार्गके वीर साधुपुरुष पंचेन्द्रियके मदांध हस्तीके दर्पको दलित कर देते हैं।

धीरता और गम्भीरता— ये परम पुरुष आचार्य परमेष्ठी धीर और गम्भीर हैं। समस्त कठिन उपसर्गोंका मुकाबिला करनेकी इनमें धीरता गम्भीरता प्रकट हुई है। धीरताका लोग अर्थ करते हैं गम खाना, घबड़ाना नहीं, यह तो फल है ही, पर धीरताका शाब्दिक अर्थ यह है 'धीं बुद्धिं राति ददाति इति धीरः' जो बुद्धिको दे उसे धीर कहते हैं। धीरके भावका नाम है धीरता। बुद्धिको स्वस्थ बनाने वाली बात है समता। किसी भी पदार्थमें राग अधिक हो जाय तो बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है। किसी प्रकार किसी भी पदार्थमें द्वेष बढ़ जाय तो बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है। जगत्के प्राणी जो अनादिसे अब तक भटक रहे हैं इसका कारण है परपदार्थविषयक रागद्वेष और उस रागद्वेषका कारण है व्यामोह। जरा अपनी ओर दृष्टि करके निहारो यह तो मात्र ज्ञानस्वरूप है। अपने आपके अन्तरमें आकर निरखो केवलज्ञानप्रकाश मात्र है, शरीर तकसे भी सम्बन्ध नहीं है। इस निज स्वरूपकी ओर दृष्टि आये तो वहां न कोई रोग है, न कोई कमजोरी है, न कायरता है, न क्षमता है, न चिन्ता है। चित् स्वभावकी दृष्टि ही परम औषधि है। जो सदाके लिए रोगमुक्त होना चाहते हैं उन्हें इस चित्स्वभावकी दृष्टिरूप परम औषधि चाहिए। मोह एक कठिन रोग है। निर्मोहता ही इस रोगको हरने वाली अमोघ औषधि है। निर्मोहता परिणामसे ही धैर्य प्रकट होता है और गुणोंमें गम्भीरता आती है अर्थात् परिपूर्ण होकर ज्ञातादृष्टा रहे ऐसी गम्भीरता इस आचार्य परमेष्ठी में होती है। ये आचार्यपरमेष्ठी किसी शिष्यके दोषको निरखकर अथवा अन्य प्रतिकूल चेष्टावोंको देखकर अधीर नहीं हो जाते हैं बल्कि गम्भीर होते हैं।

आचार्यका शुद्ध शासन— कल्याणार्थी शिष्य आचार्यकी उपेक्षा देखें अपने प्रति तो इसको वे महादण्ड समझते हैं और इसी कारण आचार्य परमेष्ठीका यह धर्म शासन निर्बाध चलता है। आचार्यकी वाञ्छा नहीं है कि शिष्योंपर शासन करें किन्तु शिष्योंका प्रेम, शिष्योंका विनय

अपने पदसे चलित हो रहा है। जो सत्य धर्मके वचन सुननेकी ही भावना बनाये रहते हैं, जो धार्मिक, आध्यात्मिक भक्तिविषयक शब्द ही सुनना चाहते हैं अथवा जो सभी प्रकारके इन्द्रियोंके संयमकी वाञ्छा रखते हैं, जो गुप्तिके पालनेमें अभिलाषी रहते हैं ऐसे पुरुष संतजन किस विषयकी अभिलाषा करेंगे? जैसे कोई वीर मदांध हस्तीके दर्पको दलित कर देता है ऐसे ही ये मोक्षमार्गके वीर साधुपुरुष पंचेन्द्रियके मदांध हस्तीके दर्पको दलित कर देते हैं।

धीरता और गम्भीरता— ये परम पुरुष आचार्य परमेष्ठी धीर और गम्भीर हैं। समस्त कठिन उपसर्गोंका मुकाबिला करनेकी इनमें धीरता गम्भीरता प्रकट हुई है। धीरताका लोग अर्थ करते हैं गम खाना, घबड़ाना नहीं, यह तो फल है ही, पर धीरताका शाब्दिक अर्थ यह है 'धीं बुद्धिं राति ददाति इति धीरः' जो बुद्धिको दे उसे धीर कहते हैं। धीरके भावका नाम है धीरता। बुद्धिको स्वस्थ बनाने वाली बात है समता। किसी भी पदार्थमें राग अधिक हो जाय तो बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है। किसी प्रकार किसी भी पदार्थमें द्वेष बढ़ जाय तो बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है। जगत्के प्राणी जो अनादिसे अब तक भटक रहे हैं इसका कारण है परपदार्थविषयक रागद्वेष और उस रागद्वेषका कारण है व्यामोह। जरा अपनी ओर दृष्टि करके निहारो यह तो मात्र ज्ञानस्वरूप है। अपने आपके अन्तरमें आकर निरखो केवलज्ञानप्रकाश मात्र है, शरीर तकसे भी सम्बन्ध नहीं है। इस निज स्वरूपकी ओर दृष्टि आये तो वहां न कोई रोग है, न कोई कमजोरी है, न कायरता है, न व्यग्रता है, न चिन्ता है। चित्स्वभावकी दृष्टि ही परम औषधि है। जो सदाके लिए रोगमुक्त होना चाहते हैं उन्हें इस चित्स्वभावकी दृष्टिरूप परम औषधि चाहिए। मोह एक कठिन रोग है। निर्मोहता ही इस रोगको हरने वाली अमोघ औषधि है। निर्मोहता परिणामसे ही धैर्य प्रकट होता है और गुणोंमें गम्भीरता आती है अर्थात् परिपूर्ण होकर ज्ञाताद्रष्टा रहे ऐसी गम्भीरता इस आचार्य परमेष्ठीमें होती है। ये आचार्यपरमेष्ठी किसी शिष्यके दोषको निरखकर अथवा अन्य प्रतिकूल चेष्टाओंको देखकर अधीर नहीं हो जाते हैं बल्कि गम्भीर होते हैं।

आचार्यका शुद्ध शासन— कल्याणार्थी शिष्य आचार्यकी उपेक्षा देखें अपने प्रति तो इसका वे महादण्ड समझते हैं और इसी कारण आचार्य परमेष्ठीका यह धर्म शासन निर्बाध चलता है। आचार्यकी वाञ्छा नहीं है कि शिष्योंपर शासन करें किन्तु शिष्योंका प्रेम, शिष्योंका विनय

निर्बाध चलता रहता है।

अन्यवस्थाओंका कारण— सर्व अन्यवस्थाओंकी जड़ कषायमा
है। समाजमें; सोसाइटियोंमें, घरोंमें, धार्मिक गोष्ठियोंमें किसी भी जग
जब भी विवाद खड़ा होगा तो कषायके कारण ही खड़ा होगा। और उसमें
भी है प्रधान लोभ कषाय। क्रोध यों ही अचानक उठकर नहीं आता है।
किसी मानी हुए इष्ट वस्तुमें बाधा आये तब क्रोध उत्पन्न होता है। धनमें
बाधा आये, इज्जतमें बाधा आये तब क्रोध उत्पन्न होता है। यह लोभ
कषायका रंग इतना गहरा है कि जिसमें रंगा हुआ प्राणी चिंतित रहता
है और व्यग्र रहा करता है, कोई-कोई तो लोभकषायका नाम तक नहीं
लेते हैं। जैसे किसी गंदी चीजका नाम लेना लोग बुरा समझते हैं ऐसे ही
लोभ कषायका नाम लेना भी कुछ लोग बुरा समझते हैं। लोभका नाम
कहना हो तो आखिरी कषाय यों कहा करते हैं। जैसे कोई मांस खाता
था पहिले तो लोग मांसका नाम नहीं लेते थे, कह देते थे कि फलाना गंदी
चीज खाता है, मांसका नाम लेना बुरा समझते थे, ऐसे ही लोभकषायका
नाम भी लेनेमें कुछ लोग संकोच करते हैं। धनका लोभ हो, इज्जतका
लोभ हो, किसी भी बातका लोभ हो तो छल कपट करना पड़ता है। मान
भी अपनी इज्जतके लगावमें प्रकट होता है। सब कषायोंका सरदार है
लोभ कषाय। सब कषायें नष्ट हो जाती हैं। वे गुणस्थानमें भले ही यह
लोभकषाय अपना रंग अच्छेरूपमें नहीं दिखा सके किन्तु लोभकी कुछ न
कुछ ऐंठ १० वें गुणस्थान तक रहती है। जिन साधुजनोंने इन कषाय-
स्थानोंको नष्ट कर दिया है ऐसे आचार्यपरमेष्ठी स्वयं मोक्षमार्गमें बढ़ते हैं
और दूसरे शिष्योंको बढ़ाते हैं।

वस्तुपरिचय— इस विवेकी पुरुषके द्रव्यसम्बन्धी परिज्ञान यथार्थ
रहा करता है, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, किसीका किसीसे सम्बन्ध नहीं है।
सभीका स्वरूपास्तित्व जुदा-जुदा है, ऐसी स्वतंत्रताकी प्रतीति जिसके
निरन्तर बनी रहती है वह कैसे व्यग्र होगा? वह गम्भीर है। सबसे महान
वैभव यही है कि वस्तुकी स्वतंत्रताकी प्रतीति रक्खी जाय। सर्व जीवोंका
सम्मान करना इसका सहजगुण है, रागद्वेष इस ही स्वतंत्रताकी प्रतीतिके
बलसे मिटा करते हैं। यद्यपि कुछ लोग रागद्वेष मिटानेके लिए ऐसे भी
उपाय करते हैं, ऐसी भावना बनाते हैं कि जो भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे
सब ईश्वरके हैं, वे मेरे कुछ नहीं हैं। उद्देश्य तो ठीक है पर अन्तरमें ऐसी
तो वह विविक्तता इसमें नहीं आ पाती है। जो विविक्तता इस प्रतीतिमें
बसी हुई है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, एकका दूसरेमें अत्यन्ताभाव है।

निर्बाध चलता रहता है।

अव्यवस्थाओंका कारण— सर्व अव्यवस्थाओंकी जड़ कषाय
है। समाजमें, सोसाइटियोंमें, घरोंमें, धार्मिक गोष्ठियोंमें किसी भी जग
जब भी विवाद खड़ा होगा तो कषायके कारण ही खड़ा होगा। और उसमें
भी है प्रधान लोभ कषाय। क्रोध यों ही अचानक उठकर नहीं आता है।
किसी मानी हुए इष्ट वस्तुमें बाधा आये तब क्रोध उत्पन्न होता है। मनमें
बाधा आये, इज्जतमें बाधा आये तब क्रोध उत्पन्न होता है। यह लोभ
कषायका रंग इतना गहरा है कि जिसमें रंगा हुआ प्राणी चिंतित रहता
है और व्यग्र रहा करता है, कोई-कोई तो लोभकषायका नाम तक नहीं
लेते हैं। जैसे किसी गंदी चीजका नाम लेना लोग बुरा समझते हैं ऐसे ही
लोभ कषायका नाम लेना भी कुछ लोग बुरा समझते हैं। लोभका नाम
कहना हो तो आखिरी कषाय यों कहा करते हैं। जैसे कोई मांस खाता
था पहिले तो लोग मांसका नाम नहीं लेते थे, कह देते थे कि फलाना गंदी
चीज खाता है, मांसका नाम लेना बुरा समझते थे, ऐसे ही लोभकषायका
नाम भी लेनेमें कुछ लोग संकोच करते हैं। धनका लोभ हो, इज्जतका
लोभ हो, किसी भी बातका लोभ हो तो छल कपट करना पड़ता है। मान
भी अपनी इज्जतके लगावमें प्रकट होता है। सब कषायोंकी सरदार है
लोभ कषाय। सब कषायें नष्ट हो जाती हैं। वे गुणस्थानमें भले ही यह
लोभकषाय अपना रंग अच्छेरूपमें नहीं दिखा सके किन्तु लोभकी कुछ न
कुछ ऐंठ १० वें गुणस्थान तक रहती है। जिन साधुजनोंने इन कषाय-
स्थानोंको नष्ट कर दिया है ऐसे आचार्यपरमेष्ठी स्वयं मोक्षमार्गमें बढ़ते हैं
और दूसरे शिष्योंको बढ़ाते हैं।

वस्तुपरिचय— इस विवेकी पुरुषके द्रव्यसम्बन्धी परिज्ञान यथार्थ
रहा करता है, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, किसीका किसीसे सम्बन्ध नहीं है।
सभीका स्वरूपास्तित्व जुदा-जुदा है, ऐसी स्वतंत्रताकी प्रतीति जिसके
निरन्तर बनी रहती है वह कैसे व्यग्र होगा? वह गम्भीर है। सबसे महान
वैभव यही है कि वस्तुकी स्वतंत्रताकी प्रतीति रक्खी जाय। सर्व जीवोंका
सम्मान करना इसका सहजगुण है, रागद्वेष इस ही स्वतंत्रताकी प्रतीतिके
बलसे मिटा करते हैं। यद्यपि कुछ लोग रागद्वेष मिटानेके लिए ऐसे भी
उपाय करते हैं, ऐसी भावना बनाते हैं कि जो भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे
सब ईश्वरके हैं, वे मेरे कुछ नहीं हैं। उद्देश्य तो ठीक है पर अन्तरमें ऐसे
तो वह विविक्तता इसमें नहीं आ पाती है। जो विविक्तता इस प्रतीतिमें
बसी हुई है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, एकका दूसरेमें अत्यन्ताभाव है।

लोगोंकी निगाहमें सारभूत हीरा माणिक लगा इसलिए उसे रत्न कहा—
क्योंकि ऐसी कीमती वस्तु परिमाणमें छोटी और मूल्यवान् होनी चाहिए।
सो वह माणिक ही ऐसा कीमती है। सो लोग इन माणिकोंको रत्न
बोलने लगे। पर रत्न नाम है सारभूत वस्तुका। अध्यात्ममें सारभूत वस्तु
है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र। इस लिए इनका नाम रत्नत्रय
है। और किसी किसी मनुष्यको भी तो कह देते हैं कि इन साहबका क्य
कहना है? ये तो रत्न हैं अर्थात् आप श्रेष्ठ हैं, उपादेय हैं। कहीं उस रत्न
का यह अर्थ नहीं है कि वह पत्थर है। तो रत्नका अर्थ है सारभूत रत्नत्रय
मायने सारभूत तीन बातें। इन माणिकोंसे भी सारभूत चीज है आत्माका
विश्वास, आत्माका ज्ञान, आत्माका चारित्र।

सर्वोत्कृष्ट सारभूत परिणाम— आत्महितकी यह बात मात्र कहने
सुननेकी बात नहीं है, दिलमें लगानेकी बात है। माणिकमें क्या सार है?
माणिकसे ज्यादा सारभूत गेहूं चना है। गेहूं चनामें भी सार नहीं है, गेहूं
चनाको खाते रहें तो यह कुछ नियम है क्या कि जबतक यह मनुष्य रहेगा
तब तक इसे गेहूं चना मिलते रहेंगे? रोग भी न होगा, स्वस्थ रहेगा,
सम्पन्न रहेगा? सर्वोत्कृष्ट सारभूत है वह परिणाम जिसमें लबालब
आनन्द भरा है, रंच आकुलता नहीं है, वह परिणाम है आत्मानुभवका
ज्ञानका, चारित्रका। ऐसे जो रत्नत्रय करिके सहित है वह उपाध्याय है।

उत्कृष्ट रिश्ता— दुनियामें सबसे ऊँची सर्वोत्कृष्ट रिश्तेदारी है गुरु
शिष्यकी। जिसका सौभाग्य हो सो पहिचाने। वेतन लेकर मास्टरी करने
वाले गुरुकी यहां चर्चा नहीं कर रहे हैं। जिनका सम्बन्ध ऐसे रहपर
लगा दे कि जिससे अनन्तकाल तकके लिए संसारके संकट मिट जायें, वह
सम्बन्ध उत्कृष्ट है। एक कोई कथानक है कि एक गुरु शिष्य थे। जंगलमें
ध्यान करते थे। गुरुने एक बार देखा कि एक भयंकर विषधर सांप आ
रहा है। वह कई भवोंका वैरी होगा गुरु ने जान लिया। गुरुने जान लिया
कि यह कभी न कभी शिष्यकी जान लेगा। शिष्य सो रहा था। गुरुने
क्या किया कि अपने उस निवासस्थानके निकट चारों ओर कुण्डली रेखा
कर दी और उस शिष्यकी छाती पर बैठकर उसके शरीरसे थोड़ा खून
निकाला और वह खून सर्पके आगे डाल दिया। सर्प खून पीकर वापिस
लौट गया। उस समय शिष्यने जगकर देखा कि गुरुजी छाती पर बैठे हैं
और खून निकाला, तो ऐसी स्थितिमें शिष्य तो यही सोचेगा कि गुरु
हमारी छाती पर बैठे हुए हमारे प्राण ले रहे हैं, परंतु वह शिष्य गुरुके
गुणोंसे भरा पूरा था। उसके मनमें रंच भी शंका न हुई कि गुरु मेरा

लोगोंकी नि..हम सारभूत हीरा माणिक लगा इसलिए उसे रत्न कहा—
क्योंकि ऐसी कीमती वस्तु परिमाणमें छोटी और मूल्यवान् होनी चाहिए।
सो वह माणिक ही ऐसा कीमती है। सो लोग इन माणिकोंको रत्न
बोलने लगे। पर रत्न नाम है सारभूत वस्तुका। अध्यात्ममें सारभूत वस्तु
है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र। इस लिए इनका नाम रत्नत्रय
है। और किसी किसी मनुष्यको भी तो कह देते हैं कि इन साहबका क्य
कहना है? ये तो रत्न हैं अर्थात् आप श्रेष्ठ हैं, उपादेय हैं। वहाँ उस रत्न
का यह अर्थ नहीं है कि वह पत्थर है। तो रत्नका अर्थ है सारभूत रत्नत्रय
मायने सारभूत तीन बातें। इन माणिकोंसे भी सारभूत चीज है आत्माका
विश्वास, आत्माका ज्ञान, आत्माका चारित्र।

सर्वोत्कृष्ट सारभूत परिणाम— आत्महितकी यह बात मात्र कहने
सुननेकी बात नहीं है, दिलमें लगानेकी बात है। माणिकमें क्या सार है?
माणिकसे ज्यादा सारभूत गेहूं चना है। गेहूं चनामें भी सार नहीं है, गेहूं
चनाको खाते रहें तो यह कुछ नियम है क्या कि जबतक यह मनुष्य रहेगा
तब तक इसे गेहूं चना मिलते रहेंगे? रोग भी न होगा, स्वस्थ रहेगा,
सम्पन्न रहेगा? सर्वोत्कृष्ट सारभूत है वह परिणाम जिसमें लबालब
आनन्द भरा है, रंच आकुलता नहीं है, वह परिणाम है आत्मानुभवका
ज्ञानका, चारित्रका। ऐसे जो रत्नत्रय करिके सहित है वह उपाध्याय है।

उत्कृष्ट रिश्ता— दुनियामें सबसे ऊँची सर्वोत्कृष्ट रिश्तेदारी है गुरु
शिष्यकी। जिसका सौभाग्य हो सो पहिचाने। वेतन लेकर मास्टरी करने
वाले गुरुकी यहां चर्चा नहीं कर रहे हैं। जिनका सम्बन्ध ऐसे रहपर
लगा दे कि जिससे अनन्तकाल तकके लिए संसारके संकट मिट जायें, वह
सम्बन्ध उत्कृष्ट है। एक कोई कथानक है कि एक गुरु शिष्य थे। जंगलमें
ध्यान करते थे। गुरुने एक बार देखा कि एक भयंकर विषधर सांप आ
रहा है। वह कई भवोंका वैरी होगा गुरु ने जान लिया। गुरुने जान लिया
कि यह कभी न कभी शिष्यकी जान लेगा। शिष्य सो रहा था। गुरुने
क्या किया कि अपने उस निवासस्थानके निकट चारों ओर कुण्डली रेखा
कर दी और उस शिष्यकी छाती पर बैठकर उसके शरीरसे थोड़ा खून
निकाला और वह खून सर्पके आगे डाल दिया। सर्प खून पीकर वापिस
लौट गया। उस समय शिष्यने जगकर देखा कि गुरुजी छाती पर बैठे हैं
और खून निकाला, तो ऐसी स्थितिमें शिष्य तो यही सोचेगा कि गुरु
हमारी छाती पर बैठे हुए हमारे प्राण ले रहे हैं, परंतु वह शिष्य गुरुके
गुणोंसे भरा पूरा था। उसके मनमें रंच भी शंका न हुई कि गुरु मेरा

रमण किया, एकतारूप निश्चय रत्नत्रयमें जो परिणत हो और उसके फल में जिसके अनन्त चतुष्टय प्रकट हो, ऐसे आप्त देवकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे चला आया हुआ जो समस्त पदार्थोंका विवरण है उस विवरण का उपदेश करनेमें वे कुशल हैं। उपाध्याय परमेष्ठी ने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म दोनोंका उपदेश किया है। निश्चय तो है वस्तुके स्वभावका नाम अथवा आत्माके स्वभावका नाम और इस स्वभावके अवलोकन के बलसे जो मोह क्षोभ रहित निर्मल परिणाम हुआ है धर्म उसका भी नाम है। निश्चयधर्म और जो इस निश्चयधर्मको प्रकट करनेमें परम्परया कारणभूत हो वह व्यवहारधर्म है, निश्चयधर्मके प्रकट होनेका वास्तविक कारणभूत एक देश शुद्धोपयोग है, उसके रहते हुए जो शुभोपयोगकी प्रवृत्तियां चलती हैं वे सब व्यवहारधर्म कहलाती हैं।

अन्तस्तत्त्वमें उपादेयताके भावकी प्रयोजकता— धर्म धारण करनेके लिए यह परिज्ञान सहायक है कि निज शुद्ध आत्मतत्त्व, ज्ञानमात्र, ज्ञायकस्वरूप यह तो उपादेय है और परद्रव्य व परभाव हेय हैं। किसी भी वर्णन का कोई एक ध्येय हुआ करता है। मोक्षमार्गका प्रयोजक जितना भी उपदेश है उस उपदेशका प्रयोजन केवल एक यही है निज शुद्ध आत्मतत्त्व उपादेय है और सब परभाव हेय हैं। कुछ भी व्यवहारधर्म करें उसमें यह बात आनी चाहिए, ऐसी जिसकी धुन बन जाती है, वह स्व पुरुष है। सम्यग्दृष्टि भी पूज्य माना गया है। पुरुष पूज्य नहीं है सम्यक्त्व पूज्य है। सम्यग्दर्शनकी अतुल महिमा है। अविरति सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गमें लगा हुआ है, किन्तु, निर्ग्रन्थ भेषका धारण करने वाला यदि निज सहजस्वभाव का अनुभव नहीं कर सका है तो वह मोक्षमार्गमें लगा हुआ नहीं है। उसके सारे काम लौकिक हैं, अलौकिक नहीं रहे। मात्र वह सब दिल बहलानेकी बात है। किसीके तीव्र कषाय है उसका दिल बहल रहा है विषयोंमें किसीके मंद कषाय हैं तो उसका दिल बहल रहा है व्रतमें, संयम में, तपमें, उसने भी दिल बहलाया और इस भेषधारी साधुने भी अपना दिल बहलाया, किन्तु सम्यक्त्वके अनुभव बिना न वहां सांसारिक संकट टलते हैं और न वहां कोई परमार्थमें वृद्धि होती है।

उपाध्यायकी व्युत्पन्नता— उपाध्याय शब्दका अर्थ क्या है? उपका अर्थ है समीपमें, "यस्य समीपे शिष्यवर्गः अधीते सः उपाध्यायः। जिनके समीप शिष्यजन अध्ययन करें उन्हें उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। यह उपाध्याय परमेष्ठी निष्काम भावना करिके सहित हैं, ये शिष्यजनोंको शिक्षण देकर उनसे कोई सेवा शुश्रूषा नहीं चाहते हैं, उनसे कोई अपनी

रमण किया, एकतारूप निश्चय रत्नत्रयमें जो परिणत हो और उसके फल में जिसके अनन्त चतुष्टय प्रकट हो, ऐसे आप्त देवकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे चला आया हुआ जो समस्त पदार्थोंका विवरण है उस विवरण का उपदेश करनेमें वे कुशल हैं। उपाध्याय परमेष्ठी ने निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म दोनोंका उपदेश किया है। निश्चय तो है वस्तुके स्वभावका नाम अथवा आत्माके स्वभावका नाम और इस स्वभावके अवलोकन के बलसे जो मोह क्षोभ रहित निर्मल परिणाम हुआ है धर्म उसका भी नाम है। निश्चयधर्म और जो इस निश्चयधर्मको प्रकट करनेमें परम्परया कारणभूत हो वह व्यवहारधर्म है, निश्चयधर्मके प्रकट होनेका वास्तविक कारणभूत एक देश शुद्धोपयोग है, उसके रहते हुए जो शुभोपयोगकी प्रवृत्तियां चलती हैं वे सब व्यवहारधर्म कहलाती हैं।

अन्तरतत्त्वमें उपादेयताके भावकी प्रयोजकता— धर्म धारण करनेके लिए यह परिज्ञान सहायक है कि निज शुद्ध आत्मतत्त्व, ज्ञानमात्र, ज्ञायक-स्वरूप यह तो उपादेय है और परद्रव्य व परभाव हेय हैं। किसी भी वर्णन का कोई एक ध्येय हुआ करता है। मोक्षमार्गका प्रयोजक जितना भी उपदेश है उस उपदेशका प्रयोजन केवल एक यही है निज शुद्ध आत्म-तत्त्व उपादेय है और सब परभाव हेय हैं। कुछ भी व्यवहारधर्म करें उसमें यह बात आनी चाहिए, ऐसी जिसकी धुन बन जाती है वह उच्च पुरुष है। सम्यग्दृष्टि भी पूज्य माना गया है। पुरुष पूज्य नहीं है सम्यक्त्व पूज्य है। सम्यग्दर्शनकी अतुल महिमा है। अविरति सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गमें लगा हुआ है, किन्तु, निर्ग्रन्थ भेषका धारण करने वाला यदि निज सहजस्वभाव का अनुभव नहीं कर सका है तो वह मोक्षमार्गमें लगा हुआ नहीं है। उसके सारे काम लौकिक हैं, अलौकिक नहीं रहे। मात्र वह सब दिल बहलानेकी बात है। किसीके तीव्र कषाय है उसका दिल बहल रहा है विषयोंमें किसीके मंद कषाय है तो उसका दिल बहल रहा है व्रतमें, संयम में, तपमें, उसने भी दिल बहलाया और इस भेषधारी साधुने भी अपना दिल बहलाया, किन्तु सम्यक्त्वके अनुभव बिना न वहां सांसारिक संकट टलते हैं और न यहां कोई परमार्थमें वृद्धि होती है।

उपाध्यायकी व्युत्पन्नता— उपाध्याय शब्दका अर्थ क्या है? उपका अर्थ है समीपमें, "यस्य समीपे शिष्यवर्गः अधीते सः उपाध्यायः। जिनके समीप शिष्यजन अध्ययन करें उन्हें उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। यह उपाध्याय परमेष्ठी निष्काम भावना करिके सहित हैं, ये शिष्यजनोंको शिक्षण देकर उनसे कोई सेवा शुश्रूषा नहीं चाहते हैं, उनसे कोई अपनी

आत्माने क्या किया ? केवल परिज्ञान किया और इच्छा की तो अब हम मात्र ज्ञान ही कर सकते और इच्छा ही कर सकते, इससे आगे बाह्यपदार्थों में कुछ नहीं कर सकते तब फिर कुछ विवेक बनायें न, हम ऐसा वस्तुका परिज्ञान करें, ऐसा तत्त्वका परिज्ञान करें कि जिस परिज्ञानमें संसारके सारे संकट टल सकें, वह तत्त्व है निज कारणसमयसार।

उपाध्याय परमेष्ठीका अभिनन्दन— जो निरञ्जन है, परभावके लोगोंसे रहित है, सर्व प्रकारके बाह्य परिग्रहोंके त्यागरूप है, ऐसे निज परमात्मतत्त्वकी भावना ये उपाध्याय परमेष्ठी करते हैं और इस भावना के फलमें उनको जो सहज परमशाश्वत आनन्द प्राप्त होता है, वे तो उससे तृप्त हैं, फिर भी करुणाके कारण शिष्यवर्गों को अध्ययन कराते हैं, ऐसे ये उपाध्याय परमेष्ठी जैनोंके उपास्य हैं अर्थात् राग द्वेषको जीतने वाले भव्य में श्रद्धा रखने वाले साधु संतजनोंके उपासक हैं। ऐसे रत्नत्रयमय शुद्ध भव्यरूप कमलोंको प्रफुल्लित करने वाले सूर्यके समान प्रकाशमान् उपाध्याय पवित्र ज्ञानपुंज ज्ञान ही जिसका एक क्रीड़ा स्थान है ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी को बार बार मेरा नमस्कार हो।

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥७५॥

साधुपरमेष्ठी— जो व्यापारसे विमुक्त है, चार प्रकारकी आराधनावोंमें सदा लीन रहता है, निर्ग्रन्थ एव निर्मोह है ऐसा ज्ञानीपुरुष साधु परमेष्ठी होता है। साधु शब्दका अर्थ है 'स्वशुद्धात्मानं साधयति इति साधुः।' जो शुद्ध आत्माको साधे उसे साधु कहते हैं। साधु १० प्रकार के होते हैं—प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण उपशमक अनिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक, उपशांतमोह, अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरणक्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक और क्षीणमोह। सयोगकेवली अरहंत परमेष्ठीमें है और अयोगकेवली भी अरहंत परमेष्ठीमें है। अभी जो १० के नाम बताये गए हैं उनमें, जो क्रम बोला है उसमें यह जानना कि पहिले नम्बर से अगले नम्बरके साधुका परिणाम विशेष निर्मल होता है। ११ वें गुणस्थान वाले उपशांत मोह साधु जितनी कर्मनिर्जरा करते हैं उससे असंख्यातगुणी निर्जरा क्षपकश्रेणीमें रहने वाले अपूर्वकरण गुणस्थान वाले साधु करते हैं। देखिये वे कषायरहित हैं, और इसके अभी कषायोंका विनाश नहीं हुआ है, किन्तु कर्मोंके क्षय करने का जो कदम है, परिणाम है वह बड़ी विशिष्ट जातिका होता है। साधु परमेष्ठी निरन्तर निज शुद्ध स्वरूपके अवलोकनरूप चैतन्यप्रतिपन्नमें

आत्माने क्या किया ? केवल परिज्ञान किया और इच्छा की तो अब हम मात्र ज्ञान ही कर सकते और इच्छा ही कर सकते, इससे आगे बाह्यपदार्थों में कुछ नहीं कर सकते तब फिर कुछ विवेक बनायें न, हम ऐसा वस्तुका परिज्ञान करें, ऐसा तत्त्वका परिज्ञान करें कि जिस परिज्ञानमें संसारके सारे संकट टल सकें, वह तत्त्व है निज कारणसमयसार।

उपाध्याय परमेष्ठीका अभिनन्दन— जो निरञ्जन है, परभावके लोगोंसे रहित है, सर्व प्रकारके बाह्य परिग्रहोंके त्यागरूप है, ऐसे निज परमात्मतत्त्वकी भावना ये उपाध्याय परमेष्ठी करते हैं और इस भावना के फलमें उनको जो सहज परमशाश्वत आनन्द प्राप्त होता है, वे तो उससे तृप्त हैं, फिर भी करुणाके कारण शिष्यवर्गों को अध्ययन कराते हैं, ऐसे ये उपाध्याय परमेष्ठी जैनोंके उपास्य हैं अर्थात् राग द्वेषको जीतने वाले भव में श्रद्धा रखने वाले साधु संतजनोंके उपासक हैं। ऐसे रत्नत्रयमय शुद्ध भव्यरूप कमलोंको प्रफुल्लित करने वाले सूर्यके समान प्रकाशमान् उपाध्याय पवित्र ज्ञानपुंज ज्ञान ही जिसका एक क्रीड़ा स्थान है ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी को बार बार मेरा नमस्कार हो।

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥७५॥

साधुपरमेष्ठी— जो व्यापारसे विमुक्त है, चार प्रकारकी आराधनावोंमें सदा लीन रहता है, निर्ग्रन्थ एवं निर्मोह है ऐसा ज्ञानीपुरुष साधु परमेष्ठी होता है। साधु शब्दका अर्थ है 'स्वशुद्धात्मानं साधयति इति साधुः।' जो शुद्ध आत्माको साधे उसे साधु कहते हैं। साधु १० प्रकार के होते हैं—प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण उपशमक अनिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक, उपशांतमोह, अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरणक्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक और क्षीणमोह। सयोगकेवली अरहंत परमेष्ठीमें है और अयोगकेवली भी अरहंत परमेष्ठीमें है। अभी जो १० के नाम बताये गए हैं उनमें, जो क्रम बोला है उसमें यह जानना कि पहिले नम्बर से अगले नम्बरके साधुका परिणाम विशेष निर्मल होता है। ११ वें गुणस्थान वाले उपशांत मोह साधु जितनी कर्मनिर्जरा करते हैं उससे असंख्यातगुणी निर्जरा क्षपकश्रेणीमें रहने वाले अपूर्वकरण गुणस्थान वाले साधु करते हैं। देखिये वे कषायरहित हैं, और इसके अभी कषायोंका विनाश नहीं हुआ है, किन्तु कर्मोंके क्षय करने का जो कदम है परिणाम है वह बड़ी विशिष्ट जातिका होता है। साधु परमेष्ठी निरन्तर निज शुद्ध स्वरूपके अवलोकनरूप चैतन्यप्रतिपन्नमें

अशुद्धता से ही तो वह भोजन बनायेगा, उसकी अपेक्षा तो श्रावकने गुण किया है, साधुजन यदि यह देख लें कि केवल मेरे लिए भोजन बनाया है तो उसे वे ग्रहण नहीं करते हैं। भूख रोगकी शांतिके लिए इतना प्रतिकार तो उनका हो जाता है, पर स्वयं बनाएँ तो उसके लिए सामान जोड़ेंगे और फिर सामानकी रक्षा करना पड़ेगी, तो जहां इतनी बातें बढ़ जायें फिर वहां आत्मसाधनाका अवसर ही कहां मिलेगा ? इससे साधुजनोंमें भिक्षा भोजनकी पद्धति होती है।

साधुवोंकी मनोगतिके सम्बन्धमें शंका समाधान--शंका, जब बाह्यमें कुछ श्रम तो करनेको रहा नहीं, न रोजिगार करना है, न भोजनके साधन जुटाना है, न कोई बर्तन रखना है, वही है एक पिछी और कमण्डल जो कि संयम और शुद्धताके उपकरणके लिए आवश्यक है। फिर वे करते क्या रहते हैं ? गृहस्थजन तो बेकार होने पर एक घंटा भी समय नहीं गुजार पाते हैं और वे साधुजन २४ घंटा समस्त व्यापारोंसे विमुक्त हैं, ऐसे वे ठलुवा बेकार, जिनको शरीरसे किसी भी प्रकारका आरम्भ नहीं करना होता है वे साधुसंत जन क्या किया करते है ? समाधान, वे चार प्रकारकी आराधनामें लीन रहा करते हैं। करता तो कोई भी बाहरमें कुछ नहीं है, जो गृहस्थजन हैं वे भी बाहरमें कुछ नहीं किया करते हैं, वे अपने आपमें अपना परिणाम बनाया करते हैं। किसी न किसी बातकी आराधना गृहस्थ भी किया करते हैं। आराधनाके सिवाय गृहस्थ भी कुछ नहीं किया करते हैं, तो साधु भी आराधनाके सिवाय और क्या करें ? गृहस्थोंकी आराधना हैं साधुओंसे विचित्र विलक्षण धनकी आराधना, इज्जतकी आराधना, मकान दुकानकी आराधना। वे विषयके साधनोंकी आराधनाको करते हैं। वे भी किसी न किसी ओर उपयोग बनाए रहते हैं। साधुसंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चारकी आराधनामें रहा करते हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, कैसा यह सहजज्ञान प्रकाश है ? यह ज्ञानप्रकाश ही मेरे निरन्तर रहा करे, यही समस्त आनन्दका श्रोत है--ऐसे परम शरणभूत निज ज्ञायकस्वभावकी आराधनामें वे साधु रहा करते है।

साधु संतोंकी आराधना-- परमज्ञानस्वरूप निजतत्त्वकी श्रद्धा हो उसे कहते है सम्यग्दर्शन। उसकी आराधनामें अथवा निज सहजस्वरूप जो अन्तर्मुखतया अवलोकन है, जो अन्तर्मुख चित्प्रकाश है वह है दर्शन इस दर्शनमें आत्माको कोई झंझट ही नहीं रहा, ऐसे दर्शनकी आराधनामें साधुजन रहा करते हैं। ज्ञान और दर्शनकी स्थिति मेरे निरन्तर बनी रहा करती करे, ऐसी हम आपकी भावना रहनी चाहिये। केवल ज्ञाता द्रष्टा

अशुद्धता से ही तो वह भोजन बनायेगा, उसकी अपेक्षा तो श्रावकने गुण किया है, साधुजन यदि यह देख लें कि केवल मेरे लिए भोजन बनाया है तो उसे वे ग्रहण नहीं करते हैं। भूख रोगकी शांतिके लिए इतना प्रतिकार तो उनका हो जाता है, पर स्वयं बनाएँ तो उसके लिए सामान जोड़ेंगे और फिर सामानकी रक्षा करना पड़ेगी, तो जहां इतनी बातें बढ़ जायें फिर वहां आत्मसाधनाका अवसर ही कहां मिलेगा ? इससे साधुजनोंमें भिक्षा भोजनकी पद्धति होती है।

साधुवोंकी मनोगतिके सम्बन्धमें शंका समाधान--शंका, जब बाह्यमें कुछ श्रम तो करनेको रहा नहीं, न रोजिगार करना है, न भोजनके साधन जुटाना है, न कोई बर्तन रखना है, वही है एक पिछी और कमण्डल जो कि संयम और शुद्धताके उपकरणके लिए आवश्यक है। फिर वे करते क्या रहते हैं ? गृहस्थजन तो वेकार होने पर एक घंटा भी समय नहीं गुजार पाते हैं और वे साधुजन २४ घंटा समस्त व्यापारोंसे विमुक्त हैं, ऐसे वे ठलुवा बेकार, जिनको शरीरसे किसी भी प्रकारका आरम्भ नहीं करना होता है वे साधुसंत जन क्या किया करते है ? समाधान, वे चार प्रकारकी आराधनामें लीन रहा करते हैं। करता तो कोई भी बाहरमें कुछ नहीं है, जो गृहस्थजन हैं वे भी बाहरमें कुछ नहीं किया करते हैं, वे अपने आपमें अपना परिणाम बनाया करते हैं। किसी न किसी ढानकी आराधना गृहस्थ भी किया करते हैं। आराधनाके सिवाय गृहस्थ भी कुछ नहीं किया करते हैं, तो साधु भी आराधनाके सिवाय और क्या करें ? गृहस्थोंकी आराधना हैं साधुवोंसे विचित्र विलक्षण धनकी आराधना, इज्जतकी आराधना, मकान दुकानकी आराधना। वे विषयके साधनोंकी आराधनाको करते हैं। वे भी किसी न किसी ओर उपयोग बनाए रहते हैं। साधुसंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चारकी आराधनामें रहा करते हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, कैसा यह सहजज्ञान प्रकाश है ? यह ज्ञानप्रकाश ही मेरे निरन्तर रहा करे, यही समस्त आनन्दका श्रोत है--ऐसे परम शरणभूत निज ज्ञायकस्वभावकी आराधनामें वे साधु रहा करते है।

साधु संतोंकी आराधना-- परमज्ञानस्वरूप निजतत्त्वकी श्रद्धा हो उसे कहते है सम्यग्दर्शन। उसकी आराधनामें अथवा निज सहजस्वरूप जो अन्तर्मुखतया अवलोकन है, जो अन्तर्मुख चित्प्रकाश है वह है दर्शन इस दर्शनमें आत्माको कोई झंझट ही नहीं रहा, ऐसे दर्शनकी आराधनामें साधुजन रहा करते हैं। ज्ञान और दर्शनकी स्थिति मेरे निरन्तर बनी रहा करती करे, ऐसी हम आपकी भावना रहनी चाहिये। केवल ज्ञाता द्रष्टा

आत्मतत्त्वकी प्रतीति रखते हैं, इन्हें किन्हीं भी विषयोंकी आशा नहीं रही है, विषयोंकी इच्छा नहीं रही है। ये साधु मोक्षमार्ग की आराधना किया करते हैं। ज्ञानी भक्तकी दृष्टि साधुके गुणोंपर रहती है। ये परमेष्ठी १० प्रकारके बाह्य परिग्रहोंसे तो अत्यन्त दूर रहते है ही, साथ ही विशेषता आभ्यन्तरपरिग्रह मुक्तिकी है। आभ्यंतर १४ परिग्रह हुआ करते है-- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। इन १४ प्रकारके परिग्रहोंक व्यक्तरूप छठे गुणस्थानमें भी नहीं रहता है। कषायोंका इतना मंद परिणमन रहता है कि जिससे उनके सम्यक् धर्में, संयममें बाधा नहीं आती है। और फिर वे इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाके बलसे रहे सहे गंदे परिणमनोंको भी समाप्त कर देते हैं। ये साधु परमेष्ठी इन २४ प्रकारके परिग्रहोंसे विमुक्त हैं।

वास्तविक कृत्य और वैभव-- भैया! इस लोकमें करने योग्य काम क्या है खूब परखिये। मकान बनवा कर क्या करोगे? दुकान बनवाकर क्या करोगे? करना पड़ता है सो करिये। पर अंतरंगमें यह श्रद्धा तो रखिये कि ये जड़ पौद्गलिक ही मेरे लिए सब कुछ नहीं हैं, इनसे इस आत्माका कुछ भी लाभ न होगा। कविजन कहते हैं कि लक्ष्मीका नाम दौलत इसलिए रक्खा गया कि इसके दो लातें होती हैं। सो जब लक्ष्मी आती है तो यह छाती पर लात मारकर आती है, जिससे छाती कड़ी और गर्ववाली हो जाती है और जब लक्ष्मी जाती है तो पीठमें लात मार कर जाती है जिससे फिर वह दीन झुकी कमर वाला, कांतिरहित हो जाया करता है। वास्तविक लक्ष्मी तो आत्माकी ज्ञानलक्ष्मी है। निज शुद्ध स्वरूपका परिज्ञान रहा करे उससे बढ़कर वैभव लोकमें अन्य कुछ नहीं है। ये साधुपरमेष्ठी इन सर्व प्रकारके बाह्य झंझटोंसे, व्यापारोंसे, परिग्रहोंसे मुक्त रहा करते हैं।

निर्मोहता-- साधु परमेष्ठी अत्यन्त निर्मोह हैं। मोह हुआ करता है अपने आपके परिणामोंमें, परवस्तुमें कोई मोह कर ही नहीं सकता। अज्ञानीजन, मिथ्यादृष्टि पुरुष जो भी मोह कर रहे हैं वे परवस्तुमें मोह नहीं कर रहे हैं, परवस्तु तो उसके मोह परिणामका विषय बन रहा है। मोह तो सब अपने आपकी भावनामें कर रहे हैं। मिथ्यात्व श्रद्धा गुणका विपरीत परिणमन है। श्रद्धा गुण आत्मप्रदेशमें ही है। अपने श्रद्धागुणका जो भी परिणमन हो वह आत्मप्रदेशसे बाहर कहां रह सकेगा? वहां तो आधार ही नहीं है। श्रद्धा गुणका विपरीत परिणमन भी आत्मप्रदेशमें

आत्मतत्त्वकी प्रतीति रखते हैं, इन्हें किन्हीं भी विषयोंकी आशा नहीं रही है, विषयोंकी इच्छा नहीं रही है। ये साधु मोक्षमार्गकी आराधना किया करते हैं। ज्ञानी भक्तकी दृष्टि साधुके गुणोंपर रहती है। ये परमेष्ठी १० प्रकारके बाह्य परिग्रहोंसे तो अत्यन्त दूर रहते है ही, साथ ही विशेषता आभ्यन्तरपरिग्रह मुक्तिकी है। आभ्यंतर १४ परिग्रह हुआ करते है-- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। इन १४ प्रकारके परिग्रहोंक व्यक्तरूप छठे गुणस्थानमें भी नहीं रहता है। कषायोंका इतना मंद परिणमन रहता है कि जिससे उनके सम्यक् धर्म, संयममें बाधा नहीं आती है। और फिर वे इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाके बलसे रहे सहे गंदे परिणमनोंको भी समाप्त कर देते हैं। ये साधु परमेष्ठी इन २४ प्रकारके परिग्रहोंसे विमुक्त हैं।

वास्तविक कृत्य और वैभव— भैया! इस लोकमें करने योग्य काम क्या है खूब परखिये। मकान बनवाकर क्या करोगे? दुकान बनवाकर क्या करोगे? करना पड़ता है सो करिये। पर अंतरंगमें यह श्रद्धा तो रखिये कि ये जड़ पौद्गलिक ही मेरे लिए सब कुछ नहीं हैं, इनसे इस आत्माका कुछ भी लाभ न होगा। कविजन कहते हैं कि लक्ष्मीका नाम दौलत इसलिए रक्खा गया कि इसके दो लाते होती हैं। सो जब लक्ष्मी आती है तो यह छाती पर लात मारकर आती है, जिससे छाती कड़ी और गर्ववाली हो जाती है और जब लक्ष्मी जाती है तो पीठमें लात मार कर जाती है जिससे फिर वह दीन झुकी कमर वाला, कांतिरहित हो जाया करता है। वास्तविक लक्ष्मी तो आत्माकी ज्ञानलक्ष्मी है। निज शुद्ध स्वरूपका परिज्ञान रहा करे उससे बढ़कर वैभव लोकमें अन्य कुछ नहीं है। ये साधुपरमेष्ठी इन सर्व प्रकारके बाह्य झंझटोंसे, व्यापारोंसे, परिग्रहोंसे मुक्त रहा करते हैं।

निर्मोहता— साधु परमेष्ठी अत्यन्त निर्मोह हैं। मोह हुआ करता है अपने आपके परिणामोंमें, परवस्तुमें कोई मोह कर ही नहीं सकता। अज्ञानीजन, मिथ्यादृष्टि पुरुष जो भी मोह कर रहे हैं वे परवस्तुमें मोह नहीं कर रहे हैं, परवस्तु तो उसके मोह परिणामका विषय बन रहा है। मोह तो सब अपने आपकी भावनामें कर रहे हैं। मिथ्यात्व श्रद्धा गुणका विपरीत परिणमन है। श्रद्धा गुण आत्मप्रदेशमें ही है। अपने श्रद्धागुणका जो भी परिणमन हो वह आत्मप्रदेशसे बाहर कहां रह सकेगा? वहां तो आधार ही नहीं है। श्रद्धा गुणका विपरीत परिणमन भी आत्मप्रदेशमें

कारी है।

समृद्धि और समृद्धिके अर्थ प्रयोग— सर्वोत्कृष्ट समृद्धि है परम निर्वाण। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे सदाके लिए छुटकारा पा लेना, इसे कहते हैं परमनिर्वाण। ऐसे साधुपुरुष नित्य आत्मस्वभावकी आराधनामें लीन रहते हैं। साधु पुरुषका आशय इतना विशुद्ध होता है कि वहां राग-द्वेषकी कणिका नहीं रहती है। वे संसारके सुखोंको त्यागकर सर्व संगोंके सम्बन्धसे मुक्त रहकर निरन्तर आनन्दमय आत्मतत्त्वमें विभोर रहा करते हैं। सिद्ध परमेष्ठीसे तो हम लोगोंका कुछ व्यवहार ही नहीं चलता, पर उनके गुणोंका स्मरण कर हम लाभ प्राप्त करना चाहें तो प्राप्त कर सकते हैं। अरहंत परमेष्ठी जिस समयमें अरहंत हुआ करते हैं उस क्षेत्रमें जो जीव हों उनको दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवणमात्रका व्यवहार रहता है। ऐसे भी अरहंत परमेष्ठीका सदा समागम नहीं रहता है। आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी—इन तीन परमेष्ठियोंका समागम विशेष रहा करते हैं। हम अपने चारित्रको प्रयोजनात्मक प्रगतिशील तब कर सकते हैं जब हम इन परमेष्ठियोंके सत्संगमें रहते हैं। इस कारण सुगम शीघ्र उपकारकी दृष्टि से हमें इन गुरुवोंकी उपासना बहुत लाभदायक है। ऐसे साधुपुरुष सदा वंदनीय हैं। अब यहां तक व्यवहार चारित्रके पालनके प्रतापसे कैसा-कैसा आत्माका विकास हुआ है, इस प्रसंगमें पंचपरमेष्ठीका स्वरूप कहा गया है। अब अंतिम गाथामें जो व्यवहारचारित्रसे और आगे चलकर निश्चयचारित्रकी संधि करने वाली है ऐसी गाथाको आचार्य देव कह रहे हैं।

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि॥७६॥

दो अधिकारोंका संधिरूप विवरण— जैसा कि उक्त प्रकरणोंमें कहा गया है इस प्रकारकी भावनामें व्यवहारनयका चारित्र होता है। निश्चयनयके अभिप्रायसे चारित्र क्या है? इस बातको अब आगे कहेंगे। आपने समझा ही होगा कि यहां व्यवहारचारित्रके वर्णनमें भी निश्चयचारित्रकी झलक प्रदर्शित की गई है, कारण यह है कि निश्चयचारित्रके सम्बन्ध बिना वास्तवमें बाह्यचारित्रको व्यवहारचारित्र भी नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि उस बाह्यचारित्रका नाम भी चाहे निश्चयचारित्र न हो, व्यवहार चारित्र कहा गया है, किन्तु जो कार्यकारी व्यवहारचारित्र है और मोक्ष मार्गमें सहायक व्यवहारचारित्र है वह व्यवहारचारित्र नहीं बन पाता। यह गाथा व्यवहारचारित्रके व्याख्यानका उपसंहार करने वाली है और

कारी है।

समृद्धि और समृद्धिके अर्थ प्रयोग— सर्वोत्कृष्ट समृद्धि है परम निर्वाण। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे सदाके लिए छुटकारा पा लेना, इसे कहते हैं परमनिर्वाण। ऐसे साधुपुरुष नित्य आत्मस्वभावकी आराधनामें लीन रहते हैं। साधु पुरुषका आशय इतना विशुद्ध होता है कि वहां राग-द्वेषकी कणिका नहीं रहती है। वे संसारके सुखोंको त्यागकर सर्व संगोंके सम्बन्धसे मुक्त रहकर निरन्तर आनन्दमय आत्मतत्त्वमें विभोर रहा करते हैं। सिद्ध परमेष्ठीसे तो हम लोगोंका कुछ व्यवहार ही नहीं चलता, पर उनके गुणोंका स्मरण कर हम लाभ प्राप्त करना चाहें तो प्राप्त कर सकते हैं। अरहंत परमेष्ठी जिस समयमें अरहंत हुआ करते हैं उस क्षेत्रमें जो जीव हों उनको दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवणमात्रका व्यवहार रहता है। ऐसे भी अरहंत परमेष्ठीका सदा समागम नहीं रहता है। आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी—इन तीन परमेष्ठियोंको समागम विशेष रहा करते हैं। हम अपने चारित्रको प्रयोजनात्मक प्रगतिशील तब कर सकते हैं जब हम इन परमेष्ठियोंके सत्संगमें रहते हैं। इस कारण सुगम शीघ्र उपकारकी दृष्टि से हमें इन गुरुवोंकी उपासना बहुत लाभदायक है। ऐसे साधुपुरुष सदा वंदनीय हैं। अब यहां तक व्यवहार चारित्रके पालनके प्रतापसे कैसा-कैसा आत्माका विकास हुआ है, इस प्रसंगमें पंचपरमेष्ठीका स्वरूप कहा गया है। अब अंतिम गाथामें जो व्यवहारचारित्रसे और आगे चलकर निश्चयचारित्रकी संधि करने वाली है ऐसी गाथाको आचार्य देव कह रहे हैं।

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

दो अधिकारोंका संधिरूप विवरण— जैसा कि उक्त प्रकरणोंमें कहा गया है इस प्रकारकी भावनामें व्यवहारनयका चारित्र होता है। निश्चयनयके अभिप्रायसे चारित्र क्या है? इस बातको अब आगे कहेंगे। आपने समझा ही होगा कि यहां व्यवहारचारित्रके वर्णनमें भी निश्चयचारित्रकी झलक प्रदर्शित की गई है, कारण यह है कि निश्चयचारित्रके सम्बन्ध बिना वास्तवमें बाह्यचारित्रको व्यवहारचारित्र भी नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि उस बाह्यचारित्रका नाम भी चाहे निश्चयचारित्र न हो, व्यवहार चारित्र कहा गया है, किन्तु जो कार्यकारी व्यवहारचारित्र है और मोक्ष मार्गमें सहायक व्यवहारचारित्र है वह व्यवहारचारित्र नहीं बन पाता। यह गाथा व्यवहारचारित्रके व्याख्यानका उपसंहार करने वाली है और

निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र, ये दोनों ही परिणतियाँ हैं। अब मोक्षमार्ग के प्रकरणमें निश्चयचारित्रके स्पर्श सहित जो व्यवहारचारित्र होता है वह तो कार्यकारी माना गया है और निश्चयचारित्रके स्पर्शनसे रहित जो आत्मपरिणतिरूप शुभ भावना भी चले तो भी वह मोक्षमार्गके लिए कार्यकारी नहीं है; क्योंकि अज्ञानभाव रहते हुए शुभ रागकी भावना भी कर्मनिर्जरा करनेमें सफल नहीं हो सकती है।

व्यवहारचारित्रमें प्रशस्त अनुराग— व्यवहारचारित्र में १३ प्रकार के चारित्र और परमेष्ठीका ध्यान — इन दोनोंमें अनुराग रहता है। बिना शारीरिक क्रियाओंमें आये हुए महाव्रत, समिति, गुप्ति जो वस्तुतः महाव्रत समिति, गुप्ति हो ही नहीं पाते हैं, इनमें अनुराग करना; यह प्रशस्त राग नहीं है, अज्ञानसहित जितने भी राग हैं वे सब राग अतिप्रशस्त राग नहीं कहलाते हैं। यद्यपि लड़ाई झगड़ेकी अपेक्षा ये सब राग प्रशस्त राग हैं, लेकिन मोक्षमार्गमें जिनको शामिल किया जा सके, ऐसे ये प्रशस्त राग नहीं हैं। निश्चय अहिंसा महाव्रत और व्यवहार अहिंसा महाव्रतमें जो शुभ अनुराग है, प्रशस्त अहिंसामहाव्रत का अनुराग है, ऐसे ही निश्चयरूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग महाव्रत और व्यवहाररूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग महाव्रत इनके अनुरागका होना भी प्रशस्त अनुराग है। प्रयोजनभूत बात तो इतनी है कि उन सब क्रियाओंमें बीच बीच झलक निश्चयकी होती रहनी चाहिए।

निश्चयकी संगतिसे व्यवहारका सामर्थ्य— जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मस्वरूपकी ओर नहीं है जो कि ज्ञानसाध्य बात है तब ऐसे अज्ञानमय भावमें रहते सहते जो भी भावना चलेगी, जो भी देहकी परिणति चलेगी वह सब एक दिल बहलाने वाली परिणति है। वहां मार्गमें संक्रमण, निर्जरण, संवरण आदि कोई प्रयोजक बातें हो सकें सो नहीं हो सकता है। इस मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत शुभोपयोगमें शुद्धतत्त्वके उपयोगका साथ अवश्य है। और इसी कारण जब हम भगवद्भक्ति करते हैं तो भले ही एक शुभ अनुरागसे हम भगवान्की भक्ति करते हैं पर उस भक्तिसे बीच-बीच जो उनके शुद्ध गुणविकासका अवलोकन होता है और उनके शुद्ध-स्वभावका दर्शन होता है उस निश्चय अंशकी संगतिके कारण यह भगवद्-भक्ति कर्मनिर्जराका कारण बन जाती है और इसी कारण सिद्धान्तशास्त्रमें भगवद्भक्तिको, कर्मनिर्जराका कारण बताया है। वादिराज मुनिने एकी-भाव स्तोत्रमें यह भी कहा है कि शुद्ध ज्ञान हो जाय, शुद्ध चारित्र हो जाय फिर भी हे प्रभो! यदि आपकी उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती है तो मोक्ष महल

निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र, ये दोनों ही परिणतियां हैं। अब मोक्षमार्गके प्रकरणमें निश्चयचारित्रके स्पर्श सहित जो व्यवहारचारित्र होता है वह तो कार्यकारी माना गया है और निश्चयचारित्रके स्पर्शनसे रहित जो आत्मपरिणतिरूप शुभ भावना भी चले तो भी वह मोक्षमार्गके लिए कार्यकारी नहीं है, क्योंकि अज्ञानभाव रहते हुए शुभ रागकी भावना भी कर्मनिर्जरा करनेमें सफल नहीं हो सकती है।

व्यवहारचारित्रमें प्रशस्त अनुराग— व्यवहारचारित्र में १३ प्रकार के चारित्र और परमेष्ठीका ध्यान— इन दोनोंमें अनुराग रहता है। बिना शारीरिक क्रियाओंमें आये हुए महाव्रत, समिति, गुप्ति जो वस्तुतः महाव्रत समिति, गुप्ति हो ही नहीं पाते हैं, इनमें अनुराग करना, यह प्रशस्त राग नहीं है, अज्ञानसहित जितने भी राग हैं वे सब राग अतिप्रशस्त राग नहीं कहलाते हैं। यद्यपि लड़ाई झगड़ेकी अपेक्षा ये सब राग प्रशस्त राग हैं, लेकिन मोक्षमार्गमें जिनको शामिल किया जा सके, ऐसे ये प्रशस्त राग नहीं है। निश्चय अहिंसा महाव्रत और व्यवहार अहिंसा महाव्रतमें जो शुभ अनुराग है, प्रशस्त अहिंसामहाव्रत का अनुराग है, ऐसे ही निश्चयरूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग महाव्रत और व्यवहाररूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग महाव्रत इनके अनुरागका होना भी प्रशस्त अनुराग है। प्रयोजनभूत बात तो इतनी है कि उन सब क्रियाओंमें बीच बीच झलक निश्चयकी होती रहनी चाहिए।

निश्चयकी संगतिसे व्यवहारका सामर्थ्य— जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मस्वरूपकी ओर नहीं है जो कि ज्ञानसाध्य बात है तब ऐसे अज्ञानमय भावमें रहते सहते जो भी भावना चलेगी, जो भी देहकी परिणति चलेगी वह सब एक दिल बहलाने वाली परिणति है। वहां मार्गमें संक्रमण, निर्जरण, संवरण आदि कोई प्रयोजक बातें हो सकें सो नहीं हो सकता है। इस मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत शुभोपयोगमें शुद्धतत्त्वके उपयोगका साथ अवश्य है। और इसी कारण जब हम भगवद्भक्ति करते हैं तो भले ही एक शुभ अनुरागसे हम भगवानकी भक्ति करते हैं पर उस भक्तिसे बीच-बीच जो उनके शुद्ध गुणविकासका अवलोकन होता है और उनके शुद्ध स्वभावका दर्शन होता है उस निश्चय अंशकी संगतिके कारण यह भगवद्भक्ति कर्मनिर्जराका कारण बन जाती है और इसी कारण सिद्धान्तशास्त्रमें भगवद्भक्तिको, कर्मनिर्जराका कारण बताया है। वादिराज मुनिने एकीभाव स्तोत्रमें यह भी कहा है कि शुद्ध ज्ञान हो जाय, शुद्ध चारित्र हो जाय फिर भी हे प्रभो! यदि आपकी उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती है तो मोक्ष महल

चलेगा।

व्यवहारचारित्रमें निश्चयचारित्रकी छाया— इस अधिकारमें व्यवहारचारित्रका वर्णन किया है। ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, इस प्रकार १३ प्रकारके चारित्रोंका वर्णन किया है। इन ही १३ प्रकारके चारित्रोंके माननेके कारण तेरापंथ नाम पड़ा है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि हम तेरापंथी हैं उसका अर्थ है कि १३ प्रकारका चारित्र मोक्षका साधक मार्ग है, इस प्रकारकी मान्यता वाले और यत्नके उत्सुक हम हैं। यह व्यवहारचारित्र, निश्चयचारित्रके बल पर प्रतिष्ठित रहता है। निश्चय-चारित्रशून्य व्यवहारक्रियाको चारित्र संज्ञा केवल उपचारसे दी जाती है। यह निश्चयचारित्र ही उत्कृष्ट चारित्र है। आत्मा अपने आपसे हटकर बाह्य पदार्थोंमें लगकर विह्वल हो रहा है, आकुलित हो रहा है। इसकी आकुलताके मिटनेका उपाय ही केवल यह है कि बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने आपके स्वरूपमें स्थिर हो जाय, इस ही का नाम निश्चयचारित्र है।

व्यवहारचारित्रका प्रयोजन निश्चयचारित्रकी साधना— व्यवहार-चारित्रका प्रयोजन निश्चयचारित्रकी साधना है। जैसे व्यवहारचारित्रमें जो कुछ किया जाता है, कोई मुनि चले देख भालकर तो चलनेके लिए वह नहीं चला, वह निश्चयचारित्रकी सिद्धिके ध्येयसे चला। उसने जो कुछ किया वह निश्चयचारित्रकी सिद्धिके लिए किया। जैसे यहां कोई भी पुरुष गृहस्थ धनके लिए धन नहीं कमाया करते हैं किन्तु इज्जतके लिए धन कमाते हैं। बड़े आडम्बर ठाठ बढ़ाते हैं, वे ठाठके लिए ठाठ नहीं बढ़ाते हैं, अपनी इज्जतके लिए ठाठ बढ़ाते हैं। जैसे यहां गृहस्थोंका जितना भी करने धरनेका प्रयोजन है वह सब इज्जतके पोषणके लिए है। उनका सर्वोत्कृष्ट एक ही ध्येय रहता है। जो साधारणतया गृहस्थ हैं उनकी बात कही जा रही है। यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु सामान्यतया जो गृहस्थ परिपाटी है वह इस बुनियाद पर बढ़ी चली जा रही है कि वे धन कमायें तो इज्जतके लिए, जो कुछ भी कार्य करना चाहते हैं अपनी इज्जतके लिए। एक इज्जतका उद्देश्य न रहे फिर इसके बाद केवल दो रोटियोंका ही तो प्रयोजन रह गया। दो रोटी खानेको मिल जायें; क्षुधा, तृष्णाकी शांति हो जाय। क्या क्षुधा तृष्णाकी शांति हो इतने मात्रके लिए इतने कर्तव्य यह पुरुष करता है? आप सब इस बात को परख सकते हैं कि जो कुछ भी यह गृहस्थ करना चाहता है वह इज्जत की वृद्धिके लिए करना चाहता है। यों ही समझो साधुवोंकी बात। वे जो भी करना चाहते हैं सब निश्चयचारित्रकी सिद्धिके लिए करना

चलेगा।

व्यवहारचारित्रमें निश्चयचारित्रकी छाया— इस अधिकारमें व्यवहारचारित्रका वर्णन किया है। ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, इस प्रकार १३ प्रकारके चारित्रोंका वर्णन किया है। इन ही १३ प्रकारके चारित्रोंके माननेके कारण तेरापंथ नाम पड़ा है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि हम तेरापंथी हैं उसका अर्थ है कि १३ प्रकारका चारित्र मोक्षका साधक मार्ग है, इस प्रकारकी मान्यता वाले और यत्नके उत्सुक हम हैं। यह व्यवहारचारित्र, निश्चयचारित्रके बल पर प्रतिष्ठित रहता है। निश्चयचारित्रशून्य व्यवहारक्रियाको चारित्र संज्ञा केवल उपचारसे दी जाती है। यह निश्चयचारित्र ही उत्कृष्ट चारित्र है। आत्मा अपने आपसे हटकर बाह्य पदार्थोंमें लगकर विह्वल हो रहा है, आकुलित हो रहा है। इसकी आकुलताके मिटनेका उपाय ही केवल यह है कि बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने आपके स्वरूपमें स्थिर हो जाय, इस ही का नाम निश्चयचारित्र है।

व्यवहारचारित्रका प्रयोजन निश्चयचारित्रकी साधना— व्यवहारचारित्रमें जो कुछ किया जाता है, कोई मुनि चले देख भालकर तो चलनेके लिए वह नहीं चला, वह निश्चयचारित्रकी सिद्धिके ध्येयसे चला। उसने जो कुछ क्रिया वह निश्चयचारित्रकी सिद्धिके लिए किया। जैसे यहां कोई भी पुरुष गृहस्थ धनके लिए धन नहीं कमाया करते हैं किन्तु इज्जतके लिए धन कमाते हैं। बड़े आडम्बर ठाठ बढ़ाते हैं, वे ठाठके लिए ठाठ नहीं बढ़ाते हैं, अपनी इज्जतके लिए ठाठ बढ़ाते हैं। जैसे यहां गृहस्थोंका जितना भी करने धरनेका प्रयोजन है वह सब इज्जतके पोषणके लिए है। उनका सर्वोत्कृष्ट एक ही ध्येय रहता है। जो साधारणतया गृहस्थ हैं उनकी बात कही जा रही है। यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु सामान्यतया जो गृहस्थ परिपाटी है वह इस बुनियाद पर बढ़ी चली जा रही है कि वे धन कमायें तो इज्जतके लिए, जो कुछ भी कार्य करना चाहते हैं अपनी इज्जतके लिए। एक इज्जतका उद्देश्य न रहे फिर इसके बाद केवल दो रोटियोंका ही तो प्रयोजन रह गया। दो रोटी खानेको मिल जायें; क्षुधा, तृष्णाकी शांति हो जाय। क्या क्षुधा तृष्णाकी शांति हो इतने मात्रके लिए इतने कर्तव्य यह पुरुष करता है? आप सब इस बात को परख सकते हैं कि जो कुछ भी यह गृहस्थ करना चाहता है वह इज्जत की वृद्धिके लिए करना चाहता है। यों ही समझो साधुवोंकी [illegible]न। वे जो भी करना चाहते हैं सब निश्चयचारित्रकी सिद्धिके लिए करना

न यहां कोई भूखकी गुञ्जायश है, किन्तु अनादिसे भ्रम बुद्धिके कारण जो खेल बन रहे हैं शरीर ग्रहण करना, भूख लगना आदिक जो कुछ रचना चल रही है उस लपेटमें आया हुआ यह मैं क्या करूं? यदि क्षुधाकी वेदनाको शांत न करूं तो असमयमें ही इन प्राणोंका वियोग हो सकता है और असमयमें प्राणवियोग हो जाने पर आगे फिर शरीर मिलेंगे और फिर वही विडम्बना चलेगी। यह शरीर भी मेरे न रहो, इसका अनाहार स्वभाव है, सबसे विविक्त केवल ज्ञानरूप रहना इसका सहजभाव है, ऐसी मेरी परिणति बने इस उद्देश्यसे उन्हें आहार ग्रहण करना पड़ रहा है।

ज्ञानीके वचनव्यवहारका प्रयोजन— ज्ञानी बोलता है दूसरोंसे, तो बोलनेके लिए नहीं बोलता है, किन्तु जिस बोलनेसे आत्मकल्याणका सम्बन्ध है वही बोल बोलते हैं। धर्मोपदेश भी देते हैं साधुजन, लेकिन अपना व्यक्तित्व जाहिर करना है इस दृष्टिसे नहीं, वे तो जो कुछ कह रहे हैं अपने आपको कह रहे हैं, ऐसी उन्मुखता उनके धर्मोपदेशमें होती है। अथवा जैसे कि स्वयंको पहिचाना है कि आनन्दका मार्ग है, तो कुछ परम करुणा उत्पन्न होती है तो अपने आपसे सम्बन्ध न तोड़का, अपनी आत्मदृष्टिको न तोड़कर उपदेश देते हैं। उनका देशनासे भी प्रयोजन नहीं, उनका प्रयोजन तो निश्चयचारित्रकी सिद्धि है। वे जो कुछ करते हैं, करना पड़ता है, प्रयोजन उनका प्रत्येक क्रियामें निश्चयचारित्रकी सिद्धिका है। यों उनके व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्रकी साधनाके लिए है।

निर्वाणके कारणभूत निश्चयचारित्रके वर्णनका संकल्प— सो अब आचार्यदेव यहां कह रहे हैं कि व्यवहारचारित्रका तो वर्णन किया है, अब आगे निश्चयचारित्रका वर्णन करेंगे, जिसके सम्बन्धके बिना व्यवहारचारित्रसे कर्मनिर्जराकी सिद्धि नहीं होती है। यह निश्चयचारित्र गतिरहित अवस्थाका कारण है। इस गतिरहित अवस्थाकी पंचम गतिके नामसे भी प्रसिद्धि है। कोई ५ वीं गति नहीं है। गति तो ४ ही हैं। गतिके मायने अवस्था। एक ५ वीं अवस्था है। साहित्यमें तो मरणका नाम भी ५ वीं गति बताया है लोकव्यवहारमें। जैसे लोग कहते हैं कि यह पंचत्वको प्राप्त हुआ, पंचगतिको प्राप्त हुआ मायने मर गया। मोक्षमार्गके प्रसंगमें जन्ममरणरहित होनेका नाम पंचमगति है। तो उद्देश्यवश उसका अर्थ लगाया जाता है। संसारमें ४ गतियां हैं। उन चारों गतियोंसे विलक्षण गतिरहित है जहां कभी रंच भी आकुलता न होगी, ऐसी उस निर्वाण दशाको पंचमगति कहते हैं।

निर्वाणके कारणभूत भाव व निर्वाणके कारणभूत भवोंका विषय—

न यहां कोई भूखकी गुञ्जायश है, किन्तु अनादिसे भ्रम बुद्धिके कारण जो खेल बन रहे हैं शरीर ग्रहण करना, भूख लगना आदिक जो कुछ रचना चल रही है उस लपेटमें आया हुआ यह मैं क्या करूँ? यदि क्षुधाकी वेदनाको शांत न करूँ तो असमयमें ही इन प्राणोंका वियोग हो सकता है और असमयमें प्राणवियोग हो जाने पर आगे फिर शरीर मिलेगे और फिर वही विडम्बना चलेगी। यह शरीर भी मेरे न रहो, इसका अनाहार स्वभाव है, सबसे विविक्त केवल ज्ञानरूप रहना इसका सहजभाव है, ऐसी मेरी परिणति बने इस उद्देश्यसे उन्हें आहार ग्रहण करना पड़ रहा है।

ज्ञानीके वचनव्यवहारका प्रयोजन— ज्ञानी बोलता है दूसरोंसे, तो बोलनेके लिए नहीं बोलता है, किन्तु जिस बोलनेसे आत्मकल्याणका सम्बन्ध है वही बोल बोलते हैं। धर्मोपदेश भी देते हैं साधुजन, लेकिन अपना व्यक्तित्व जाहिर करना है इस दृष्टिसे नहीं, वे तो जो कुछ कह रहे हैं अपने आपको कह रहे हैं, ऐसी उन्मुखता उनके धर्मोपदेशमें होती है। अथवा जैसे कि स्वयंको पहिचाना है कि आनन्दका मार्ग है तो कुछ परम करुणा उत्पन्न होती है तो अपने आपसे सम्बन्ध न तोड़का, अपनी आत्मदृष्टिको न तोड़कर उपदेश देते हैं। उनका देशनासे भी प्रयोजन नहीं, उनका प्रयोजन तो निश्चयचारित्रकी सिद्धि है। वे जो कुछ करते हैं, करना पड़ता है, प्रयोजन उनका प्रत्येक क्रियामें निश्चयचारित्रकी सिद्धिका है। यों उनके व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्रकी साधनाके लिए है।

निर्वाणके कारणभूत निश्चयचारित्रके वर्णनका संकल्प— सो अब आचार्यदेव यहां कह रहे हैं कि व्यवहारचारित्रका तो वर्णन किया है, अब आगे निश्चयचारित्रका वर्णन करेंगे, जिसके सम्बन्धके बिना व्यवहारचारित्रसे कर्मनिर्जराकी सिद्धि नहीं होती है। यह निश्चयचारित्र गतिरहित अवस्थाका कारण है। इस गतिरहित अवस्थाकी पंचम गतिके नामसे भी प्रसिद्धि है। कोई ५ वीं गति नहीं है। गति तो ४ ही हैं। गतिके मायने अवस्था। एक ५ वीं अवस्था है। साहित्यमें तो मरणका नाम भी ५ वीं गति बताया है लोकव्यवहारमें। जैसे लोग कहते हैं कि यह पंचत्वको प्राप्त हुआ, पंचगतिको प्राप्त हुआ मायने मर गया। मोक्षमार्गके प्रसंगमें जन्ममरणरहित होनेका नाम पंचमगति है। तो उद्देश्यवश उसका अर्थ लगाया जाता है। संसारमें ४ गतियां हैं। उन चारों गतियोंसे विलक्षण गतिरहित है जहां कभी रंच भी आकुलता न होगी, ऐसी उस निर्वाण दशाको पंचमगति कहते हैं।

निर्वाणके कारणभूत भाव व निर्वाणके कारणभूत भवोंका विषय—

जो वाहुवलिकी प्रतिमाविषयक ज्ञान हो रहा था इसमें कुछ अन्तर है कि नहीं ? यों ही आत्माकी वात है।

सम्यग्दर्शनके साथ ही ज्ञानका सम्यक्पना— यह आत्मा स्वकीय द्रव्य गुण पर्यायात्मक है, ज्ञानादिक अनन्त गुणोंका भंडार है, यह अपने स्वरूपसे परिणमता है दूसरेके रूपसे नहीं परिणमता। यह केवल ज्ञान प्रकाशमात्र है, बहुत-बहुत वातें जानीं। जाना यथार्थ जैसा कि स्वरूप है। एक तो यह जानन हुआ। अव वही पुरुष कुछ भेदविज्ञानके साधनसे, कुछ वाह्यपदार्थ विषयक संकल्प विकल्प हटा लेनेसे अपने आपकी ओर इसकी कुछ जाननेकी इच्छा होनेसे अब इसका जो अपने आपमें प्रवेश हो रहा है और वहां संकल्प विकल्प जाल छूटकर जो अपने आत्मस्वरूपका दर्शन हो रहा है उस दर्शनके बाद, उस अनुभवनके बाद, ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव हो चुकनेके बाद आत्मामें वे ही सब बातें, वही सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है, वह यही ज्ञानानन्दमात्र है। यों विशद बोध हो जाता है। आत्मदर्शनसे पहिलेका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। हालांकि वह ज्ञान वही जान रहा है जैसा कि आत्मदर्शनके बाद जाना है किन्तु आत्मदर्शन हुए विना आत्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। आत्मदर्शनके साथका आत्मस्वभावके बादका परिज्ञान सर्व सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यक्चारित्र भी शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुसार अपने उपयोगका वनाना, यही है सम्यक्चारित्र।

निश्चयचारित्रके सम्वन्धसे सफलता— ये तीनों यद्यपि एक साथ प्रादुर्भूत होते हैं किन्तु सम्यग्दर्शनकी पूर्णता पहिले होती है और सम्यग्ज्ञान की पूर्णता पश्चात् होती है और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता अंतमें होती है। यहां प्रयोजनके प्रसंगमें जितना धारण करने योग्य परमचारित्र है उस परमचारित्रकी वात कही जा रही है। यह सम्यग्ज्ञानकी पूर्णतासे पहिले ग्रहण करना चाहिए। इसके ही फलमें यह ज्ञान केवलज्ञानरूप विकसित हुआ करता है। तो जैसे कोठेमें अनाज पड़ा हुआ है, वह अंकुरित नहीं होता है, वही अनाज खेतमें पड़े, वैसी ही जलवायुका ग्रहण करे तो वह अंकुरित होता है और फल देने वाला हो जाता है, इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान जव इसे अपने आपके स्वरूपकी स्थिरता होती है तव अपने आपके स्वरूप की स्थिरताके प्रतापसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता होकर यह मोक्ष के फलको फलाने लगता है, ऐसा यह निश्चय चारित्र है।

निश्चयचारित्रका अभिनन्दन— यह निश्चयचारित्र बड़े-बड़े महा-

जो वाहुवलिकी प्रतिमाविषयक ज्ञान हो रहा था इसमें कुछ अन्तर है कि नहीं ? यों ही आत्माकी बात है।

सम्यग्दर्शनके साथ ही ज्ञानका सम्यक्पना— यह आत्मा स्वकीय द्रव्य गुण पर्यायात्मक है, ज्ञानादिक अनन्त गुणोंका भंडार है, यह अपने स्वरूपसे परिणमता है दूसरेके रूपसे नहीं परिणमता। यह केवल ज्ञान प्रकाशमात्र है, बहुत-बहुत बातें जानीं। जाना यथार्थ जैसा कि स्वरूप है। एक तो यह जानन हुआ। अब वही पुरुष कुछ भेदविज्ञानके साधनसे, कुछ वाह्यपदार्थ विषयक संकल्प विकल्प हटा लेनेसे अपने आपकी ओर इसकी कुछ जाननेकी इच्छा होनेसे अब इसका जो अपने आपमें प्रवेश हो रहा है और वहां संकल्प विकल्प जाल छूटकर जो अपने आत्मस्वरूपका दर्शन हो रहा है उस दर्शनके बाद, उस अनुभवनके बाद, ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव हो चुकनेके बाद आत्मामें वे ही सब बातें, वही सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है, वह यही ज्ञानानन्दमात्र है। यों विशद बोध हो जाता है। आत्मदर्शनसे पहिलेका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। हालांकि वह ज्ञान वही जान रहा है जैसा कि आत्मदर्शनके बाद जाना है किन्तु आत्मदर्शन हुए विना आत्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। आत्मदर्शनके साथका आत्मस्वभावके वादका परिज्ञान सर्व सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यक्चारित्र भी शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुसार अपने उपयोगका वनाना, यही है सम्यक्चारित्र।

निश्चयचारित्रके सम्वन्धसे सफलता— ये तीनों यद्यपि एक साथ प्रादुर्भूत होते हैं किन्तु सम्यग्दर्शनकी पूर्णता पहिले होती है और सम्यग्ज्ञान की पूर्णता पश्चात् होती है और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता अंतमें होती है। यहां प्रयोजनके प्रसंगमें जितना धारण करने योग्य परमचारित्र है उस परमचारित्रकी वात कही जा रही है। यह सम्यग्ज्ञानकी पूर्णतासे पहिले ग्रहण करना चाहिए। इसके ही फलमें यह ज्ञान केवलज्ञानरूप विकसित हुआ करता है। तो जैसे कोठेमें अनाज पड़ा हुआ है, यह अंकुरित नहीं होता है, वही अनाज खेतमें पड़े, वैसी ही जलवायुका ग्रहण करे तो वह अंकुरित होता है और फल देने वाला हो जाता है, इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान जव इसे अपने आपके स्वरूपकी स्थिरता होती है तव अपने आपके स्वरूप की स्थिरताके प्रतापसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता होकर यह मोक्ष के फलको फलाने लगता है, ऐसा यह निश्चय चारित्र है।

निश्चयचारित्रका अभिनन्दन— यह निश्चयचारित्र वड़े-वड़े महा-

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

—:०:—

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

—:०:—